अष्टांगहृदयम् भाग – प्रथम

(ऋषि वाग्भट्ट द्वारा रचित)

दिनचर्या
ऋतुचर्या
रोगों की उत्पत्ति के कारण
आहार द्रव्यों का ज्ञान
अन्न द्रव्यों का ज्ञान

अष्टांगहृदय

भाग – प्रथम

ऋषि बाग्भट्ट द्वारा लिखित

संकलन एवं संपादन

श्री राजीव दीक्षित

प्रस्तावना

भारत में जिस शास्त्र की मदद से निरोगी होकर जीवन व्यतीत करने का ज्ञान मिलता हैं उसे आयुर्वेद कहते हैं। आयुर्वेद में निरोगी होकर जीवन व्यतीत करना ही धर्मा माना गया हैं। रोगी होकर लम्बी आयु को प्राप्त करना या निरोगी होकर कम आयु को प्राप्त करना दोनों ही आयुर्वेद में मान्य नहीं हैं। इसलिए जो भी नागरिक अपने जीवन को निरोगी रखकर लम्बी आयु चाहते हैं, उन सभी को आयुर्वेद के ज्ञान को अपने जीवन में धारण करना चाहिए। निरोगी जीवन के बिना किसी को भी धन की प्राप्ति, सुख की प्राप्ति, धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती हैं। रोगी व्यक्ति किसी भी तरह का सुख प्राप्त नहीं कर सकता हैं। रोगी व्यक्ति कोई भी कार्य करके ठीक से धन भी नहीं कमा सकता हैं। हमारा स्वस्थ शरीर ही सभी तरह के ज्ञान को प्राप्त कर सकता हैं। शरीर के नष्ट हो जाने पर संसार की सभी वस्तुएं बेकार हैं। यदि स्वस्थ शरीर हैं तो सभी प्रकार के सुखों का आनन्द लिया जा सकता हैं। दुनिया में आयुर्वेद ही एक मात्र शास्त्र या चिकित्सा पद्धति हैं जो मनुष्य को निरोगी जीवन देने की गारंटी देता हैं। बाकी अन्य सभी चिकित्सा पद्धतियों में "पहले बीमार बनें फिर आपका इलाज किया जायेगा ", लेकिन गारंटी कुछ भी नहीं हैं। आयुर्वेद एक शाश्वत एवं सातत्य वाला शास्त्र हैं। इसकी उत्पत्ति सृष्टि के रचियता श्री ब्रह्माजी के द्वारा हुई ऐसा कहा जाता हैं। ब्रह्माजी ने आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति को दिया। श्री दक्ष प्रजापति ने यह ज्ञान अश्विनी कुमारों को दिया। उसके बाद यह ज्ञान देवताओं के राजा इन्द्र के पास पहुँचा। देवराजा इन्द्र ने इस ज्ञान को ऋषियों - मुनियों जैसे आत्रेय, पुतर्वसु आदि को दिया। उसके बाद यह ज्ञान पृथ्वी पर फैलता चला गया। इस ज्ञान को पृथ्वी पर फैलाने वाले अनेक महान ऋषि एवं वैद्य हुए हैं जो समय -समय पर आते रहे और लोगों को यह ज्ञान देते रहे हैं। जैसे चरक ऋषि, सुश्रुत, आत्रेय ऋषि, पुनर्वसु ऋषि आदि-आदि। इसी श्रृंखला में एक महान ऋषि हुए वाग्भट्ट ऋषि, जिन्होंने आयुर्वेद के ज्ञान को लोगों तक पहुँचाने के लिए एक शास्त्र की रचना की जिसका नाम "अष्टांग हृदयम्"।

इस अष्टांग हृदयम् शास्त्र में लगभग 7000 श्लोक दिये गये हैं। ये श्लोक मनुष्य जीवन को पूरी तरह निरोगी बनाने के लिए हैं।

प्रथम अध्याय
आयुर्वेद के बारे में

वायु पित्तं कफश्चेति त्रयों समासतः विकृता ऽ विकृता देहं ध्नन्ति ते वर्त्तयन्ति च। ते व्यापिनो ऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योह र्वसश्रयाः।।

अर्थ : वात, पित्त एवं कफ ये तीन दोष शरीर में जाने जाते है। ये दोष यदि विकृत हो जायें तो शरीर को हानि पहुंचाते हैं, और मृत्यू का कारण बन जाते हैं। यदि ये वात, पित्त एवं कफ सामान्य रूप से सन्तुलन में रहें तो शरीर की सभी क्रियाओं का संचालन करते हुये शरीर का पोषण करते है यद्यपि ये वात, पित्त, कफ शरीर के सभी भागों में रहते हैं, लेकिन विशेष रूप से वात नाभि के नीचे वाले भाग में, पित्त नाभि और हृदय के बीच में, कफ हृदय से ऊपर वाले भाग में रहता है।

वयो ऽ होरात्रिभुक्तानां तेडन्तमध्यादिगाः क्रमात्।

अर्थ : आयु के अन्त में अर्थात वृद्धावस्था में वायु (वात) का प्रकोप होता है। युवा अवस्था में पित्त का असर होता है। बाल्य अवस्था में कफ का असर होता है। इसी तरह दिन के प्रथम पहर अर्थात सुबह के समय कफ का प्रभाव होता है। दिन के मध्य में पित्त का प्रभाव होता है। दिन के अन्त में वात का प्रभाव होता है। सुबह कफ, दोपहर को पित्त और शाम को वात (वायु) का असर होता है।

विश्लेषण : जब व्यक्ति बाल्य अवस्था में होता है, उस समय कफ की प्रधानता होती है। बचपन में मुख्य भोजन दूध होता है। बालक को अधिक चलना–फिरना नहीं होता है। बाल्य अवस्था में किसी भी तरह की चिन्ता नहीं होती है। अतः शरीर में स्निग्ध, शीत जैसे गुणों से युक्त कफ अधिक बनता है। युवा अवस्था में शरीर में धातुओं का बनना अधिक होता है, साथ की रक्त का निर्माण अधिक होता है। रक्त का निर्माण करने में पित्त की सबसे बड़ी भूमिका होती है। युवा अवस्था में शारिरिक व्यायाम भी अधिक होता है। इसी कारण भूख भी अधिक लगती है। ऐसी स्थिति में पित्त की अधिकता रहती है। युवा अवस्था में पित्त का बढ़ना बहुत जरूरी होता है। यदि पित्त ना बढ़े तो शरीर में रक्त की कमी हो जायेगी और शरीर को पुष्ट करने वाली धातुओं का भी निर्माण नहीं होगा। पित्त के गुण हैं।– तीक्ष्ण, उष्ण।

वृद्धा अवस्था में शरीर क्षय होने लगता है। सभी धातुयें शरीर में कम होती जाती है। शरीर में रूक्षता बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में शरीर में वायु (वात) का प्रभाव बढ़ जाता है। वायु का गुण रूक्ष एवं गति है। समय विभाजन के अनुसार दिन के प्रथम प्रहर में शीत या ठंड की अधिकता होती है। इसके कारण शरीर में थोड़ा भारीपन होता है। इसी कारण कफ में वृद्धि होती है। दिन के दूसरे प्रहर मे ं और मध्यकाल में सूर्य की किरणें काफी तेज हो जाती हैं। गर्मी बढ़ जाती है। इस समय पित्त अधिक हो जाता है। अतः दिन के दूसरे प्रहर एवं मध्यकाल में पित्त प्रबल होता है। दिन के तीसरे प्रहर और सांयकाल सूर्य किरणों के मन्द हो जाने के कारण वायु का प्रभाव बढ़ता है। इसी तरह रात्रि के प्रथम प्रहर में कफ की वृद्धि होती हैं। रात्रि के दूसरे प्रहर में वात (वायु) की वृद्धि होती है। चूंकि रात्रि के तीसरे प्रहर या अन्तिम प्रहर में वातावरण में भी शीतल वायु बहती है, अतः शरीर के इसी वायु के सम्पर्क में आ जाने से शरीर में भी वायु बढ़ जाती है।

इसी तरह खाने–पीने के समय का वात, पित्त, कफ के साथ्ज्ञ मेल है। खाने को खाते समय कफ की मात्रा शरीर में अधिक होती है। खाने के बाद जब भोजन के पाचन की क्रिया शुरू होती है, उस समय पित्त की प्रधानता रहती है। भोजन में पाचन के बाद वायु कीप्रधानता होती है। भोजन कफ के साथ ही मिलकर आमाशय में पहुँचता है। मुंह में बनने वाली लार क्षारीय होती है। आमाशय में जो स्त्राव होता है, वह अम्लीय है। अतः भोजन को खाते समय लार भोजन के साथ मिलकर आमाशय में पहुंचती है, जहाँ उसमें अम्ल मिलता है। अम्ल और क्षार के संयोग से भोजन मधुर (मृदु) होता है। भोजन के मधुर होने से ही आमाशय में कफ की वृद्धि होती है। भोजन जब आमाशय से आगे चलता है तो फिर पित्त की क्रिया शुरू होती है। इस पित्त के बढ़ने से अग्नि प्रदीप्त होती है, जो भोजन को जलाकर रस में बदल देती है। भोजन के रस में बदल जाने के बाद ही इसमें से मांस, मज्जा, रक्त, वीर्य, मल–मूत्र आदि बनते हैं और इस स्तर पर वायु की अधिकता होती है। इस वायु के कारण ही मल–मूत्र का शरीर से निकलना होता है। इस तरह शरीर में प्रतिदिन

प्राकृतिक रूप से वात, पित्त, कफ में वृद्धि होती रहती है। यह प्राकृतिक वृद्धि ही शरीर की रक्षा करती है। इस प्राकृतिक तरीके से होने वाली वात, पित्त, कफ की वृद्धि शरीर में बाधा उत्पन्न नहीं करती है, बल्कि शरीर की क्रियाओं में मदद रूप होती है। इसके विपरीत जब गलत आहार–विहार के कारण वात, पित्त, कफ में वृद्धि होती है, तब शरीर को हानि होती है और बीमारियाँ होती जाती हैं।

तैर्भवेद्विषमस्तीक्ष्णो मन्दश्रवाग्निः समैःसम।

अर्थ : यदि शरीर में वात आदि दोषों की प्रधानता होती है तो उसका जठराग्नि पर प्रभाव पड़ता है। यदि वायु विषमगति हो जाये तो, पाचन क्रिया कभी नियमित और कभी अनियमित हो जाती है। पित्त अपने तीक्ष्ण गुणों के कारण अग्नि को तीव्र कर खाये हुये आहार को समय से पह ले ही पचा देता है। कफ अपने मृदु गुण के कारण अग्नि को मृदु बनाकर उचित मात्रा में खाये हुये आहार का सम्यक् पाचन नियमित समय में नहीं कर पाता है। यदि वात, पित्त और कफ तीनों समान मात्रा में रहें तो उचित मात्रा में खाये हुये आहार का निश्चित समय से पाचन हो जाता है।

कोष्ठः क्रूरो मदुर्भध्यो मध्यः स्यात्तैः समैरपि।

अर्थ : वात की वृद्धि से मलाशय पर प्रभाव पड़ता है। मलद्वार में क्रूरता बढ़ती है। इससे मलत्याग देरी से होता है। पित्त की वृद्धि से मलाशय मृदु होता है। कफ की वृद्धि से यही मलाशय मध्ये होता है। यदि वात, पित्त कफ समान हैं, तो मलाशय एवं मलद्वार मध्य होता है।

विश्लेषण : यदि कोई व्यक्ति वात प्रकृति का है या उसको पेट में वायु का प्रभाव बढ़ गया है तो उसका कोष्ठ क्रूर होगा। अर्थात उस व्यक्ति को मलत्याग देरी से होगा। इसी को कोष्ठवृद्धता भी कहते है। इसको ठीक करने के लिये औषधि की जरूरत होती है। ऐसी औषधि जो वात को कम करे और पित्त को बढ़ाये। जैसे ही पित्त बढ़ता है, वैसे ही कोष्ठ मृदु हो जाता है। कोष्ठ मृदु हो जाये तो मलत्याग आसान हो जाता है। मलत्याग आसान करने के लिये दूध, त्रिफलाचूर्ण बहुत अच्छी औषधियाँ हैं। मलत्य ाग करना सबसे अधिक आसान तभी होता है, जब वात, पित्त, कफ समान हों या सम हों।

शुक्रार्त्तवस्थैर्जन्मादो विषेनेव विषक्रिमेः।। तैश्व त्रिस्त्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः प्रथक्। समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निन्दा द्विदोषज्ञाः।।

अर्थ : गर्भ उत्पत्ति के समय, जन्म के प्रारम्भ काल में शुक्र और आव में जिन दोषों की अधिकता रहती है, उसी के अनुसार जन्म लेने वाले बालक की प्रकृति बनती है। सबसे उत्तम प्रकृति मानी जाती है, वायु प्रकृति नहीं हों, पित्त प्रकृति मध्य हो और कफ प्रकृति हो ऐसे व्यक्ति उत्तम माने जाते हैं। दो प्रकृति को मिलाकर भी मनुष्य प्रकृतियाँ बनतीं हैं। जैसे वात एवं पित्त को मिलाकर वात पित्त प्रकृति बनती है। इसी तरह वात और कफ को मिलाकर वातकफज प्रकृति बनती है। पित्त और कफ को मिलाकर पित्तकफज प्रकृति बनती है। सबसे अच्छी प्रकृति के मनुष्य वे होते हैं, जि नके शरीर में वात, पित्त और कफ तीनों सम होते हैं।

विश्लेषण : आयुर्वेद में तीनों दोषों में साम्यता को स्वस्थ होने का आधार माना है। अर्थात जिसमें वात, पित्त, कफ तीनों दोषोंकी समानता है, वह स्वस्थ है। इन तीनों दोषों को मिलाकर 7 अन्य प्रकृतियाँ बनती हैं। ये अन्य 7 प्रकृतियाँ रोगों का अधिक कारण बनतीं हैं। बचपन से ही जिसकी वात प्रकृति है, उसे ऐसे खान–पान से बचना चाहिए तो वायु को बढ़ाता हो। इसी तरह जिसकी पित्त प्रकृति बचपन से है, उसे ऐसे खान–पान से बचना चाहिए, जो पित्त को बढ़ाता हो। यदि किसी की बचपन से कफ प्रकृति है तो उसे ऐसे खान–पान से बचना चाहिए जो कफ को बढ़ावा देता हो। वात प्रकृति के व्यक्ति को सूखे वातावरण से और ठण्डे स्थानों से बचना चाहिए। पित्त प्रकृति के व्यक्ति को गरम तासीर की वस्तुओं के खान–पान से बचना चाहिए। कफ प्रकृति वालों को भारी और चिकनाई युक्त वस्तुओं के खान पान से बचना चाहिए।

तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्रलोडनिलः

अर्थ : वायु रूक्ष (सूखी), लघु, शीत (ठण्डी), खर, सूक्ष्म और हमेशा चलायमान गुण वाली होती है।

विश्लेषण : वायु वास्तव में शीतल (ठण्डी) नहीं होती है। ल`किन जब वायु ठण्डे द्रव्यों के साथ संयोग करे तो शीतल हो जाती है। जैसे पहाड़ों पर बर्फ पड़ने के बाद वहाँ से चलने वाली वायु शीतल हो जाती हे। इसी तरह यदि गर्म वातावरण है या सूर्य प्रकाश अधिक है तो वायु गर्म होकर चलती है। इसलिये शीत ऋृतु में वायु हमेशा ठण्डी चलती है और ग्रीष्म ऋृतु में वायु हमेशा गर्म चलती है। वायु में अपना शीत और गर्म गुण प्रत्यक्ष नहीं होता है। प्रत्यक्ष रूप से वायु जिसके सम्पर्क में आती है, वही गुण धारण कर लेती है। यदि कोई व्यक्ति ठण्डे स्थान में निवास करता है तो वायु (वात) बढ़ती है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति शीत द्रव्यों का सेवन करता है तो भी वायु बढ़ती है। तीव्र वायु में बैठने से शरीर की धातुओं में कमी आती है, इससे शरीर में रूक्षता (रूखापन) आता है। वायु के प्रभाव से शरीर में खारापन भी आता है। वायु अति सूक्ष्म है जो किसी भी छोटे–से–छोटे स्थान में भी प्रवेश कर जाती है। वायु चलायमान है, इसलिये कभी स्थिर नहीं रहती है।

पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्त्रं सरं द्रवम्

अर्थ : पित्त के गुण – ईषत् स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण (गर्म), लघु, विस्त्र (जलने से पूर्व मृतशरीर की तरह गन्ध वाला), सर (चलने वाला), द्रव (पतला) जैसा पित्त होता है।

स्निग्धः शीतोगुरूर्मन्दः श्लक्ष्नो मृत्स्नः स्थिरः कफः।

अर्थ : कफ के गुण – स्निग्ध (चिकनाईयुक्त), शीतल, गुरूमन्द (अल्प या कम चलने वाला), श्लक्षण (खारापन के साथ चिकना), मृत्स्न (मिट्टी की तरह गन्ध वाला) और स्थिर होता है।

विश्लेषण : पित्त को बनने में अग्नि और जल की प्रधानता होती है। इसलिये पित्त को आग्नेय माना जाता है। कफ के निर्माण में पृथ्वी और जल की प्रधानता होती है। अतः पृथ्वी, जल, अग्नि आदि के सभी गुण इन दोषों में आते हैं। इसी तरह वात के निर्माण में वायु की प्रधानता होती है।

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः। सप्त दूष्याः–मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपिच।।

अर्थ : धातुओं के प्रकार – रस, रक्त, मांस, मेदा, मज्जा, अस्थि, शुक्र आदि सात धातुयें होती हैं। ये सभी सात धातुयें शरीर में धारण होती है। वात, पित्त और कफ आदि दोषों द्वारा ये ही सात धातुयें दूषित होती है। मल, मूत्र और पसीना (स्वेद) ये तीनों शरीर को मलिन करते हैं। इसलिये इन्हें मल कहा जाता है। तीनों दोषों द्वारा भी ये दूषित होते हैं, इसलिये इन्हें भी दूष्य कहते हैं।

विश्लेषण : शरीर के मूल धारक ये तीनों दोष, धातुयें और मल (पसीना, मूत्र, विष्ठा) ही हैं। आयुर्वेद में तीनों दोष, सात धातुयें और तीनों मलों को महत्वपूर्ण माना जाता है। इनमें से किसी एक में भी असंतुलन या विकृति पैदा हो जाये तो स्वस्थ रहना मुश्किल होता है। सात धातु और तीन मलों को मिलाकर इस दूष्य (जिन्हें दूषित किया जाता है) कहलाते हैं। वात, पित्त, कफ ये तीन दोष हैं जो दूषित करते हैं। सात धातुओं के सम्यक पाचन से ही मलों की उत्पत्ति होती है। ये धातुयें ही मलों की जनक और मुख्य हैं। सभी धातुओं में जो दूषित पदार्थ होते हैं, उन्हें बाहर निकालना ही मलों का काम है। यदि शरीर से इन मलों का निष्कासन नहीं हो तो ये मल बहुत हानिकारक हो जाते हैं और शरीर को नष्ट कर देते हैं।

वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैविपर्ययः।

अर्थ : इन दोष, धातु एवं मलों की वृद्धि अपने सामान्य द्रव्य, गुण, कर्म के द्वारा किसी प्रतिबन्धक कारण के अभाव में होती है। दूसरी ओर इन दोष, धातु और मलों के द्रव्य, गुण, कर्म के विपरीत वस्तुओं से हानि होती है।

विश्लेषण : किसी भी प्रकार से दोष, मलों एवं धातुओं के समान वस्तुओं से इनमें वृद्धि होती है। दूसरी ओर विपरीत या असामान्य वस्तु से दोष, धातु एवं मलों में कमी आती है। उदाहरण के लिये वायु का गुण रूक्ष(सूखा), शीत, लघु है। ऐसे में शरीर को रूक्ष, शीत आदि गुणों के पदार्थ दिये जायें तो फिर वायु का प्रकोप शरीर में बढ़ेगा। वायु का कर्म चल है, अतः यदि व्यक्ति अधिक चलेगा तो वायु की वृद्धि शरीर में होगी। इसी प्रकार वायु के विपरीत गुणों वाले पदार्थों का उपयोग किया जाय, जैसे तेल आदि तो वायु का प्रकोप कम हो जाता

है। इसी तरह यदि शरीर को स्थिर कर दिया जाय, अर्थात शान्त होकर बैठ जायें तो भी वायु का प्रकोप शरीर में कम हो जाता है। जो भी द्रव्य वायु के गुणों के विपरीत होते हैं वे सभी वायु को शान्त करने वाले होते हैं। जैसे गेंहू, वायु को शान्त करता है, लेकिन बाजरा वायु को बढ़ाता है। क्योंकि बाजरा का गुण रूक्ष है जो वायु के समान ही है। अतः समान गुण, कर्म की वस्तुओं से वायु में वृद्धि होती है और विपरीत गुण, कर्म वाली वस्तुओं से वायु में कमी आती है। किसी भी तरह के कटु रस (कडुवे रस जैसे–करेले का रस अ ादि) वात को बढ़ाते हैं।

रसाः स्वाद्वम्ललवणत्तिकोषणकषायकाः षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वे बलावहाः।।

अर्थ : रस 6 प्रकार के होते हैं। मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), तिक्त (तीखा), उष्ण (कटु अथवा कड़ुवा) और कषाय ये 6 प्रकार के रस होते हैं।

विश्लेषण : जो भी द्रव्य या वस्तुयें होती हैं, उनमें 6 रस होते हैं। सभी द्रव्यों (वस्तुओं) की उत्पत्ति पंचमहाभूतों से होती है। पंच महाभूतों को अर्थ है– पृथ्वी, जल, आकाश, वायु और अग्नि। मधुर (मीठा) रस की उत्पत्ति पृथ्वी और जल से हो ती है। शरीर का सबसे अधिक पोषण इसी रस होता है। पृथ्वी और जल नहीं हो तो कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती है। शरीर का पोषण और वृद्धि में मधुर रस का सबसे अधिक योगदान होता है। शरीर की वृद्धि और पोषण में वायु, अग्नि और आका श का भी योगदान होता है। मधुर रस को छोड़कर अन्य सभी रसों में वायु, अग्नि और आकाश की प्रधानता होती है। वायु एवं अग्नि को शोषक माना जाता है और आकाश को शून्य माना जाता है, इसलिये शरीर की पूरी वृद्धि वायु, अग्नि और आकाश से सम्भव नहीं है। शरीर का पूर्ण विकास के लिये पृथ्वी और जल तत्व की बहुत जरूरत होती है। लेकिन वायु के द्वारा शरीर में गति होती है, जिससे रसों का शोषण होता है। अग्नि के द्वारा शरीर में पाचन होता है। शरीर में शून्य छिद्रयुक्त स्त्रोतों द्वारा प्रसार हो ता है – पाचक द्रव्यों का। किसी भी बीज की उत्पत्ति के लिये सबसे पहले पृथ्वी और जल तत्व की जरूरत होती है। फिर जरूरत होती है आकाश तत्व की। उसके बाद जरूरत होती है वायु तत्व की और अन्त में अग्नि तत्व की। अतः इन पंच महाभूतों से बने हुये सभी रस अत्यन्त ही महत्वपूर्ण होते हैं।

तत्राद्या मारूतं धन्ति त्रयस्तिदायः कफम्। कषायतिक्तमधुराः पित्तमन्ये तु कुर्वते।।

अर्थ : मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा) और नमकीन ये तीनों रस वात (वायु) के दोष को कम करते हैं। तीखा (तिक्त), कटु (कड़वा) और उष्ण रस, कफ दोष को शान्त करते हैं। कषाय, तिक्त और मधुर रस पित्त को शान्त करते हैं। इसके विपरीत तिक्त उष्ण और कषाय रस वायु (वात) में वृद्धि करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण कफ में वृद्धि करते हैं। अम्ल, लवण, उष्ण (कटू) पित्त की वृद्धि करते हैं।

शमनं कोपनं स्वस्थहितं द्रव्यमिति त्रिधा।

अर्थ : कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो दोषों का दमन करते हैं। वहीं कुछ द्रव्य ऐसे हैं जो दोषों का प्रभाव बढ़ाते हैं। कुछ ऐसे भी द्रव्य हैं जो शरीर के स्वास्थय को सम्यक रखते हैं। स्वभाव से कुछ द्रव्य लाभकारी और कुछ हानिकारक होते हैं। लेकिन सभी द्रव्य मनुष्यों की प्रकृ ति के अनुसार ही लाभ या हानि करते हैं। किसी व्यक्ति को उसकी प्रकृति के अनुसार कोई द्रव्य लाभकारी हो सकता है, लेकिन वही द्रव्य दूसरे किसी के लिये हानिकारक हो सकते हैं।

उष्णशीत गुणोत्कर्षात्तत्र वीर्य द्विधा स्मृतम्।

अर्थ : वीर्य के दो प्रकार होते हैं – शीत और उष्ण। जिसके द्वारा सभी द्रव्य कार्य करते हैं, उसे वीर्य कहते हैं। सभी द्रव्यों की उत्पत्ति पंचमहाभूत से होती है। पंचमहाभूत में जल शीतल है और अग्नि उष्ण है। पृथ्वी, आकाश और वायु ना तो शीतल हैं और ना ही उष्ण (गर्म) हैं। पृथ्वी, आकाश और वायु में जब जल की अधिकता होती है तो ये शीतल हो जाते हैं। और जब इनमें अग्नि की अधिकता होती है तो उष्ण (गर्म) हो जाते हैं। इसी प्रकार वीर्य भी उष्ण (गर्म) और शीतल (ठण्डा) दो प्रकार के होते हैं। जिस वीर्य में जल की प्रधानता हो, वे शीतल वीर्य और जिस वीर्य में उष्ण (गर्मी) की प्रधानता हो, वे उष्ण वीर्य होते हैं।

त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः

अर्थ : द्रव्यों का विपाक (जठराग्नि द्वारा पाक होने पर बना रस) मधुर (मीठा), अम्ल और कटु ये तीन प्रकार का होता है।

विश्लेषण : द्रव्यों का जठराग्नि द्वारा पाक होने पर जो रस बनता है उसे विपाक कहते हैं। द्रव्यों में रस 6 होते हैं। मधुर और लवण रसों का विपाक मधुर होता है। अम्लीय रस का विपाक भी अम्ल होता है। कटु, तिक्त, कषाय का विपाक कटु होता है।

कालार्थकर्मणां योगो हीनमिथ्याऽतिमात्रकः। सम्यग्योश्च विज्ञेयो रोगो रोग्यैक कारणम्।

अर्थ : काल (वर्षा, शीत, ग्रीष्म), अर्थ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) कर्म (वचन, गमन, आदान, आनन्द, त्याग) इन तीनों का सम्यक योग ही स्वास्थ्य का कारण होता है। इसके विपरीत काल, अर्थ और कर्म का असंतुलन ही रोग का कारण होता है।

विश्लेषण : काल, अर्थ, कर्म के असंतुलन का अर्थ है – बहुत कम या बहुत अधिक होना। जैसे काल में – वर्षा का बहुत अधिक होना या वर्षा का बहुत कम होना। इसी तरह ग्रीष्म का बहुत अधिक होना या बिल्कुल नहीं होना। कभी–कभी वर्षा का बहुत अधिक होना और अचानक से धूप बहुत तेज निकलना और फिर तीव्र वर्षा का होना। ये सभी काल असंतुलन के उदाहरण हैं। अर्थ से ज्ञानेन्द्रियों का विषय लिया जाता है। इनमें कर्णेन्द्रिय का विषय शब्द है। अत्यन्त कम (हीन) शब्दों का कर्णेन्द्रिय से संयोग होना हीनयोग है। क्योंकि अत्यन्त हीन शब्दों को सुनने के लिये कानों पर अधिक बल पड़ता है। मिथ्या कानों से अप्रिय शब्दों का सुनना जैसे– तुम्हारे पुत्र की मृत्यू हो गयी है। तुम्हारे घर में चोरी हो गयी है। यह मिथ्या योग कहलाता है। इसी तरह एक अति योग होता है। जैसे कानों के पास कोई बन्दूक चलाये, इससे कान के पर्दे फट सकते है। यह अतियोग का उदाहरण है। स्पर्श के लिये हीन, मिथ्या और अति योग के उदाहरण– अत्यन्त शीत या उष्ण द्रव्यों का त्वचा से संयोग जिस समय गरम द्रव्यों का स्पर्श होता है उस समय उष्ण (गर्म) का अतियोग और शीत का हीनयोग होता है। यदि कोई व्यक्ति गर्मी में चलकर आये और शीतल जल से स्नान करे तो यह त्वचा के लिये मिथ्यायोग होता है। इसी तरह त्वचा के ऊपर विभिन्न प्रकार के गन्दे द्रव्यों को स्पर्श होने पर मिथ्या योग होता है। रूप के लिये विभिन्न योगों के उदाहरण– आँखें, रूप का देखने का काम प्रकाश के संयोग से करती हैं। यदि प्रकाश नहीं हो तो उस समय आँखों से देखने या पढ़ने का कार्य किया जाय तो वह हीन योग माना जाता है। भीवत्स या अप्रिय घटनाओं को आँखों से देखना मिथ्या योग कहलाता है। सूर्य को देखना या अत्यधिक प्रकाश में देखना अति योग कहलाता है। रस के लिये– किसी एक रस को अधिक मात्रा में सेवन किया जाय तो अतियोग होता है। और यदि बहुत कम मात्रा में रस का सेवन किया जाय तो हीन योग कहलाता है। सड़े–गले वासी अन्न को या फलों को खाना या विरूद्ध भोजन करना मिथ्या योग कहलाता है। गन्ध के लिये– अति तीव्र गन्धों को सूंघना जैसे कस्तूरी, अमोनिया गैस आदि अतियोग है। सुगन्धित वस्तुओं को नही सूंघना हीन योग है। अप्रिय दुर्गन्धों को सूंघना मिथ्या योग है। इसी प्रकार सभी ज्ञान–इन्द्रियों के बारे में तय किया जा सकता है। अधिक रूप में लेना अतियोग, कम से कम मात्रा में लेना हीन योग और रूचिकर तरीके से नहीं संयोग होना मिथ्या योग होता है।

कर्म–इन्द्रियां भी 5 हैं। उनका विषय वचन मुख का है। अधिक ऊंचे स्वर में बोलना अतियोग, एकदम से नहीं बोलना हीन योग और अप्रिय बोलना मिथ्या योग है। हाथों से अधिक काम करना अतियोग, बिल्कुल काम नहीं करना हीन योग और अनुचित कार्य करना मिथ्यायोग में आता है। गम न का कार्य पैरों का है। अधिक चलना अति योग, बिल्कुल भी नहीं चलना हीनयोग और गलत तरीके से चलना मिथ्यायोग कहलाता है। त्याग–मल का अधिक निकलना अतियोग, मल का नहीं निकलना ही योग, मल का अनुचित तरीके से नहीं निकलना मिथ्यायोग है। सभी प्रकार के हीन, मिथ्या, अति योग रोगों के कारण हैं। दूसरी और सभी का समयोग हो तो शरीर के स्वस्थ रहने की स्थिति होती है। रोगस्तु दोषवैषम्यं, दोषसाम्यमरोगता। अर्थ : दोषों का विषम होना रोग है तथा दोषों का सम रहना आरोग्य (स्वस्थ) है।

द्वितीय अध्याय
दिनचर्या

स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थय की रक्षा करना और रोगियों को रोग मुक्त करना आयुर्वेद शास्त्र के ये दो मुख्य उद्देश्य हैं। स्वस्थ व्यक्तियों के स्वास्थय की रक्षा करने के लिये दिनचर्या–ऋतुचर्या आदि के बारे में आयुर्वेद में ज्ञान दिया गया है। दिनचर्या का अर्थ है– पूरे दिन में क्या–क्या कराना ? दिनस्यचर्या इति दिन चर्या !

ब्राह्मेमें मुहूर्त उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः शरीरचिन्तां निर्वत्यं कृतशौचविधिस्ततः।।

अर्थ : स्वस्थ व्यक्ति को अपनी आयु की रक्षा करने के लिये ब्रह्म महूर्त में ही उठ जाना चाहिए। शारिरिक चिन्ता को भगवान का स्मरण करते हुये त्याग देना चाहिए। इसके बाद मल–मूत्र आदि का त्याग करने के लिये शौच जाना चाहिए।

विश्लेषण : ब्रह्म महूर्त का अर्थ है, सुबह 4 बजे के आस–पास का समय। इस समय की वायु एकदम शुद्ध होती है। अतः इस समय में ही निद्रा त्याग कर उठना सबसे अच्छा माना जाता है। इस समय में भगवान का स्मरण करना बहुत अच्छा होता है। शौच आदि से निवृत होकर दातुन या मंजन आदि करना चाहिए।

अर्कन्यग्रोधखदिरकरन्ज ककु भादिजम्। प्रा तर्भुक्त्वा च मृद्वग्रं कषायकटुतिक्तकम्।। कनीन्यग्रसमस्थूलं प्रगुणं द्वादशाङ्गुलम्। भक्षमेद् दन्तपवनं दन्तमांसान्यबाधयन्।।

अर्थ : दन्तधावन (दातुन)– अर्क (मदार), न्यग्रोध (वट), खैर, करंज (डिठोहरी), कुकुम (अर्जुन), नीम, बबूल, महुआ आदि वृक्षों के दातुन करने चाहिए। जिनका रस कषाय, कटु और तिक्त हो, ऐसा दातुन (दन्तधावन) 12 अंगुल लम्बा, कनिष्ठिका अंगुली के समान मोटा जिसका अग्रभाग दांतों से कूचकर मृदु बनाया जा सके तथा जिस दातुन से मसूड़ों को कोई कष्ट नहीं हो, ऐसे दातुन से दांतों को मलकर साफ करना चाहिए।

नाद्यादजीर्णणमयुश्वासकासज्वरार्दिती। तृष्णा ९९स्यपाकहन्नेत्रशिरः कर्णामयीच तत्।।

अर्थ : अजीर्ण रोग, वमन, श्वास, कास, ज्वर, अर्दित (लकवा–मुंह का पक्षाघात), तृष्णा, मुखपाक, ह्रदयरोग, नेत्ररोग, शिरोरोग और कर्णरोग से पीड़ित व्यक्तियों को दातुन (दन्तधावन) नहीं करना चाहिए ।

विश्लेषण : भारत में दातुन (दन्तधावन) करने का विधान बहुत प्राचीन समय से चला आ रहा है। दातुन करने से दांतों की सफाई होती है और दांतों में होने वाले रोग भी दूर होते है। कषाय, कटु और तिक्त रसों से भरपूर वृक्षों के दातुन करना ही अच्छा माना गया हैं। क्योंकि कषाय रस संकोचक होता है। जो दांतों की जड़ों में अर्थात् मसूड़ों में संकोच पैदा करता है और फिर इससे मसूड़े मजबूत होते जाते हैं। मसूड़ों की मजबूती से ही दांतें की मजबूती आती है। तिक्त और कटु रस से लार की उत्पत्ति अधिक होती है। इसी लार (लालाश्राव) से दांतों के सभी दोष नष्ट हो जाते हैं।

दातुन करने से दांतों का मूल (मसूड़े) मजबूत और निरोगी होते हैं। लेकिन कुछ रोगों में दातुन नहीं करने का सुझाव दिया गया है, जैसे अजीर्ण रोग– इस रोग के रोगी व्यक्ति को दातुन करने से बार–बार दन्तमूल (मसूड़ों) पर घर्षण होता है। इस घर्षण से नाड़ीमण्डलों (नाड़ियों) में क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होता है। इस प्रकार शरीर को और अधिक तकलीफ हो सकती है। अजीर्ण, वमन, तृष्णा आदि रोगों से लालाश्राव (लार) की अधिक प्रवत्ति से भोजन का पाचन एवं आमाशय में शुद्धि नहीं हो पाती है। मुंह में जो ग्रन्थियाँ लार पैदा करती हैं, वह लार दातुन करने से बाहर अधिक निकल जाता है। यही लार यदि शरीर के अन्दर जाये तो पाचन करने में सह ायक होती है। इसी लार से आमाशय की शुद्धि भी होती है। अतः कुछ विशेष रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को दातुन करना निषेध माना गया है। लेकिन जो रोगी दातुन नहीं कर सकते उनके लिये दन्तमंजन का विधान रखा गया है। और जो रोगी किसी भी कारण से दंतमंजन भी नहीं कर सकते हैं, उनके लिये मुख शुद्धि के लिये बारह बार कुल्ला पानी से करने का विधान है। जीभ की शुद्धि के लिये दातुन को चीरकर उपयोग करने की बात कही गयी है। अथवा चांदी या ताम्र (तांबा) की शलाका(जीभ–छीलनी) का प्रयोग भी किय ा जा सकता है।

सौवीरमन्जंनं नित्यं हितमक्ष्णोस्ततो भजेत् चक्षुस्तेजोमयं तस्य विशेषाच्छ् लेष्मतों भयम्
योजयेत्सप्तरात्रे•स्मात्स्त्रावणर्थि रसान्जनम्

अर्थ : दन्तधावन (दातुन) के बाद आंखों के लिये लाभकारी सौवीर अंजन (काजल या सुरमा) लगाना चाहिए। नेत्र, तेजोमय हैं, अर्थात् आग्नेय हैं। इन नेत्रों को कफ से विशेष भय रहता है। अर्थात् नेत्रों को कफ से बचाना चाहिए। नेत्रों से कफ निकलता रहे, इसके लिये अंजन (काजल/सुरमा) अवश्य लगाना चाहिए। सौवीर अंजन सात–सात दिन पर अर्थात सप्ताह में एक बार लगाने का विधान है।

विश्लेषण : सौवीर अंजन एक तरह का खनिज पदार्थ है। जो आसानी से आयुर्वेदिक दवाओं की दुकानों पर मिलता है। इसे नींबू के रस में सात बार घोंट कर सूक्ष्म (बारीक) चूर्ण बना लें। फिर इसे आँखों में किसी शलाका की मदद से या साफ अंगुली से लगा सकते हैं। आँखों की होने वाली बीमारियों से बचने के लिये यह बहुत लाभकारी है। इसे प्रतिदिन लगाया जा सकता है। सप्ताह में कम से कम एक बार रसाजंन (रस–अंजन) लगाने का सुझाव दिया गया है। इससे भी नेत्र से कफ का स्त्राव होता है।

रसान्जन बनाने की विधि –रसांजन बनाने के लिये दारूहल्दी और देशी गाय के दूध का प्रयोग किया जाता है। एक मात्रा हल्दी और 3 मात्रा दूध को अच्छे से पकाकर (गरम करके उबालना) घनसत्व बनाया जाता है। फिर इसे सप्ताह में एक दिन लगाया जा सकता है।

विश्लेषण : आँखों में होने वाला रोग मोतियाबिन्द, कफ का ही एक स्वरूप है। यदि इस कफ का नाश कर दिया जाये तो मोतियाबिन्द भी ठीक हो जाता है।

अभ्यड.गमाचरे नित्यं स जराश्रमवातहा दृष्टिप्रसादपुष्टआयुः स्वप्नसुत्वकत्वदाढर्यकृत् शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।

अर्थ : शरीर को प्रतिदिन तेल मालिश (अभ्यंग) जरूर करनी चाहिए। अकाल में आनेवाली वृद्धावस्था और अधिक श्रम करने से होनेवाली थकावट को दूर करने के लिये तेल मालिश (अभ्यगं) जरूर करनी चाहिए। नित्य तेल मालिश करने से प्रसन्नता, पुष्टि और आयु प्राप्त होती है। नित्य तेल मालिश से सुखपूर्वक नींद भी आती है। नित्य तेल मालिश से त्वचा भी सुन्दर होती है और शरीर मजबूत बनता है। तेल मालिश विशेष रूप से सिर, कान और पैरों की करनी चाहिए। वैसे तो पूरे शरीर की ही तेल मालिश होनी चाहिए, लेकिन कान, सिर और पैरों की विशेष तेल मालिश होनी चाहिए।

विश्लेषण : तेलमालिश से थकान दूर होती है। निरन्तर तेलमालिश से मांस–पेशियां बहुत ही मजबूत होती हैं। मांस–पेशियों के दुर्बल होने से शरीर के अंगों में शिथिलता (कमजोरी) आती है। नित्य तेल मालिश होने से यह कमजोरी नहीं आती है। इससे शरीर की सभी इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं और अपने–अपने कार्यों में लगी रहती है।सिर कफ का स्थान है। तेल का गुण उष्ण (गर्म) है और सूक्ष्म है। अतः सिर पर तेल मालिश करने से कफ का नाश होता है, क्योंकि तेल सूक्ष्म होने से त्वचा के छिद्रों से प्रवेश ा करके अन्दर चला जाता है। अतः गर्म होने से यह तेल विकृत कफ को दूर करता है। कान जो है वे वायु (वात) का विशेष स्थान है। यदि कानों में नियमित रूप से तेल डाला जाय तो कानों के अन्दर की वायु समयोग में रहती है, अर्थात संतुलित रहती है। इससे कानों के रोा नहीं होते हैं। पैरों के द्वारा ही गमन की क्रिया होती है, अर्थात चलने–फिरने का काम होता है। गति से वायु का प्रकोप बढ़ता है। पैरों के द्वारा चलने–फिरने से पैरों में वायुका प्रकोप हो जाये तो वायु के रूक्ष होने के कारण पैरों की विवाई फट जाती है। इसका असर आँखों पर भी पड़ता है। पैरों के मूल से होकर 2 शिरायें आँखों तक जाती हैं। यदि पैरों में रूक्षता और गन्दगी रहे तो वह आँखों तक पहुँचती है। इसलिये पैरों की तेल मालिश और सफाई बहुत जरूरी है।

वर्ज्योडयड़गः कफग्रस्तकृतसंशृद्धयजार्णिभिः।

अर्थ : कफज रोगों से पीड़ित एवं अजीर्ण रोगों से पीड़ित रोगियों को तेल मालिश नहीं करनी चाहिए।

लाघवं कर्मसामर्थ्य दीप्तो९ग्निर्मेदसः क्षयः। विभक्तघनगात्रत्वं ण्यायामादुपजायते।।

अर्थ : व्यायाम करने से शरीर में लघुता, कार्य करने का सामर्थ्य, अग्नि की दीप्ति, बढ़ते हैं, और मेदावृद्धि का क्षय होता है। शरीर के सभी अंग मजबूत होते हैं।

विश्लेषण : पसीना जब आता है, सांस में जब वृद्धि होती है, शरीर के अंगों में लघुता जब आता है, हृदय प्रदेश में बाधा उत्पन्न होती है, हृदय गति में तथा सांस क ी गति में वृद्धि हो जाती है, तो ऐसी स्थिति को व्यायाम कहते हैं। व्यायाम अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे–दण्ड, कसरत, दा ैड़ना, तैरना, कुश्ती आदि। शरीर के विभिन्न अंगों में ताकत प्रदान करने के लिये भिन्न–भिन्न व्यायामों का निर्देश सभी शास्त्रों में किया गया है। शास्त्रों में आसनों का विधान एवं सूर्य नमस्कार का विशेष विधान है।

वातपित्तामयी बालो वृद्धी९जीर्णी च तं त्यजेत्

अर्थ : वात और पित्त के विकारों से पीड़ित रोगी, बालक, वृद्ध और अजीर्ण के रोगियों को व्यायाम नहीं करना चाहिए।

विश्लेषण : व्यायाम से वात एवं पित्त की स्वभावतः वृद्धि होती है। यदि किसी को वातजन्य या पित्त जन्य रोग हों तो व्यायाम करने से और अधिक बढ़ जायेंगे। बाल्य अवस्था में सभी धातुओं की वृद्धि के लिये कफ की जरूरत होती है। यदि कोई बालक व्यायाम करता है तो कफ में कमी आती है। इससे बालक के शरीर में धातुओं की कमी आ सकती है। इसलिये 10 वर्ष की आयु तक बालकों–बालिकाओं को व्यायाम नहीं करना चाहिए। क्योंकि 10 वर्ष की उम्र तक बाल्यकाल रहता है। वृद्धावस्था में शरीर में वायु की वृद्धि होती है। यदि वृद्धा अवस्था में व्यायाम किया जाये तो वायु में और अधिक वृद्धि होगी तो शरीर में वात की बीमारियाँ और अधिक बढ़ सकती है। इससे शरीर में और अधिक कमजोरी आ सकती है। इसलिये वृद्धावस्था में व्यायाम नहीं करना चाहिए। इसी तरह अजीर्ण के रोगी को भी व्यायाम नहीं करना चाहिए। क्योंकि अजीर्ण के रोगी को भोजन का पाचन होने के लिये जल एवं कफ की जरूरत होती है। व्यायाम करने से शरीर को कफ कम होता है और शरीर में क्षोभ पैदा होता है। इस कारण अन्न यथास्थान स्थित नहीं रहता है। इस स्थिति में व्यायाम करना ठीक नहीं है।

अर्धशक्तया निषेव्यस्तु बलिभि स्निग्धभोजिभिः शीतकाले वसन्ते च मन्दमेव ततो९न्यदा। तं कृत्वा९नुसुखं देहं मर्दयेच्च समन्ततः।।

अर्थ : स्निग्ध घी, दूध आदि का अधिक सेवन करते हुये व्यायाम करने वाले को शीतकाल में तथा वसन्तकाल में अपनी शक्ति का आधा व्यायाम ही करना चाहिए। या फिर बहुत कम व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम के बाद सुखपूर्वक शरीर की मालिश करनी चाहिए।

विश्लेषण : यदि समुचित दूध और घी नहीं मिले तो व्यायाम नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि व्यायाम करने पर शरीर का स्नेहित कफ शरीर के काम आता है। यदि दूध–घी का सेवन करते हुये व्यायाम किया जाय तो शरीर को ऊर्जा मिलती रहती है। शीतकाल, शरद, हेमन्त, शिशिर तथा बसन्त ऋतु में व्यायाम शक्ति के अनुसार करना चाहिए। ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु में वायु का संचय और वर्षा ऋतु में वायु का प्रकोप शरीर में होता है। व्यायाम करने से वायु का संचय और प्रकोप दोंनों ही बढ़ते हैं। व्यायाम करते हुये जब सांस की गति बढ़ जाये, हाथों की बगलों में पसीना आने लगे, माथेपर पसीना आने लगे तो व्यायाम बन्द कर देना चाहिए।

तृष्णा क्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः। अतिव्यायामातः कासो ज्वरश्छदिश्च जायते।।
व्यायामजागराह वस्त्रीहास्य भाष्य दिसाहसम्। गजं सिंह इवाकर्षन भजन्नति विनश्यति।।

अर्थ : अधिक व्यायाम करने से प्यास में वृद्धि, मांसपेशियों का क्षय, प्रतमक, सांस, रक्त, पित्त, शीघ्र थकावट, मानसिक दुर्बलता, कास, ज्वर और वमन रोग उ त्पन्न हो जाता है। अधिक व्यायाम, अधिकि जागरण, अधिक चलना, अधिक सम्भोग, अधिक हंसना, अधिक बोलना, आदि सभी खराब हैं। इस अधिक को करने वाला मनुष्य इसी तरह नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार हाथी को खींचने वाला सिंह नष्ट हो जाता है।

विश्लेषण : यदि कोई सिंह चाहे तो हाथी को मार सकता है। फिर मरे हुये हाथी को सिंह खींचकर ले जाने की कोशिश करे तो सिंह के फेंफड़े फट जायेगें और सिंह मर जायेगा। इसी तरह यदि कोई अधिक व्यायाम करे तो फिर उसके फेफड़ों में अधिक वायु भर जायेगी। फि र उस व्यक्ति के मर जाने की संभावना हो सकती है। अतः किसी भी कार्य को अधिक मात्रा में नहीं करना चाहिए।

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलामनम्। स्थिरीकरणमडांग्नां त्वक्प्रसादकर परम्।।

अर्थ : उबटन की शरीर में मालिश, कफ का नाश करने वाली होती है। उबटन की मालिश से अंग–प्रत्यंग स्थिर रहते हैं। और मजबूत भी रहते हैं। त्वचा भी सुन्दर और आर्कषक होती है।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमुजबिलप्रदम्। कण्डूमल श्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्यजित।। उष्णाम्बुनाडधः कायस्य परिषेको बलावहः। तेनैव तूत्तमाड़ग्स्य बलहृत्मेशचक्षुषाम्

अर्थ : स्नान करने से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अर्थात स्नान करने से भूख अच्छी लगती है। स्नान करने से आयु की वृद्धि तथा शारिरिक बल की भी वृद्धि होती है। स्नान करने से त्वचा की खुजली दूर होती है तथा शारिरिक श्रम की थकान भी दूर होती है। स्नान करने से पसीना आना बन्द होता है और शरीर का ताप भी कम हो जाता है। सामान्य रूप से स्नान शीतल जल से ही करना चाहिए। अधिक सर्दियों में हलके गरम जल से भी स्नान किया जा सकता है। लेकिन स्नान के समय गरम जल कभी सिर पर नहीं डालना चाहिए। गरम जल यदि सिर पर और आँखों पर डाला जाय तो बालों का तथा आँखों का बल नष्ट होता है।

विश्लेषण : स्नान हमेशा भोजन के पहले ही करना चाहिए। स्नान के समय शरीर के अन्दर से निकली हुयी उष्मा भीतर वापस लौट जाती है। और फिर यही उष्मा जठराग्नि को बल प्रदान करती है। बलवर्धन और वायु की वृद्धि शरीर की स्वच्छता पर निर्भर होती है। स्नान से शरीर जब पूर्ण स्वच्छ हो ज ाता है तो मन में उत्साह और शक्ति का संचार होता है। शरीर से विजातीय मल दूर होते हैं। किसी भी प्रकार के संक्रामक और अन्य रोग होने की संभावना नहीं होती है। इससे मनुष्य की आयु नियमित और लम्बी होती है।

स्नानमर्दित नेत्रास्यकर्व रोगा तिसारिषु। आध्य मानपीनसा जीर्ण भुक्तवत्सु च गर्हितम्।।

अर्थ : मुंह का लकवा, नेत्ररोग, मुख के रोग, कर्ण रोग, अतिसार, अजीर्ण आदि रोगोंसे पीड़ित व्यक्ति को स्नान का निषेध है। स्वस्थ व्यक्तियों को भोजन के आद कभी भी स्नान नहीं करना चाहिए।

विश्लेषण : स्नान से शरीर में वायु की तत्काल वृद्धि होती है। यह वायु शरीर के भीतरी भाग में अवस्थित हो जाती है। अर्दित रोग वायु का रोग है। अतः इस अर्दित रोग में स्नान करने से वायु की और अधिक वृद्धि होती है। इसलिये अद्रित रोग मे ंस्नान वर्जित है। नेत्र पितप्रधान होते हैं। पित्त आग्नेय होता है। स्नान करने से पित्त नेत्रों में अधिक पहुंचता है। इसलिये नेत्रों में गर्मी बढ़ जाती है। यदि नेत्रों में पहले से कोई रोग हो, तो गर्मी बढ़ जाने पर और नेत्रों की तकलीफ बढ़ जाती है। इसलिये नेत्र रोगों में स्नाननहीं करना चाहिए। मुंह के अन्दर वात, पित्त और कफ तीनों ही रहते हैं। यदि मुंह के रोग हों, तो स्नान करने से वात, पित्त और कफ का संतुलन बिगड़ने की संभावना होती है। इसलिये मुंह के रोगों में स्नान नहीं करना चाहिए। मुंह के अधिकतर रोग पित्त प्रकृति के होते हैं। कानों में वायु का स्थान है। स्नान करने पर कानों में वायु का प्रकोप बढ़ता है। इसलिये कानों के रोग होने पर स्नान नहीं करना चाहिए। अतिसार के रोग में अमाशय में पानी अधिक हो जाता है। इससे पित्त बढ़ जाता है। स्नान से शरीर की उष्मा अन् दर आ जाने से अतिसार रोग में वृद्धि हो जाती है। इसी तरह अजीर्ण रोग में अग्नि मंद हो जाती है। इसके कारण भोजन अधपका हुआ रहता है। इससे कफ का निर्माण होता है। अधपका भोजन कफ में वृद्धि करता है। स्नान करने से भी कफ में वृद्धि होती है। आमाशय में कफ की वृ द्धि होने से जठरअग्नि और भी कम होती है। इसलिये स्नान को निषेध किया जाता है। भोजन के बाद जठराग्नि अन्न को पचाने में लगी रहती है। यदि भोजन के बाद स्नान किया जाय तो उष्मा अन्दर की ओर जाने से जरूरत से अधिक गर्मी आमाशय में हो जाती है। इसके चलते भोजन का पाचन समुचित नहीं होता है। अर्दित, मुखरोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, आदि में यदि स्नान करना भी पड़े तो सिर पर नहीं करना चाहिए। गले से नीचे स्नान किया जा सकता है।

जीर्णे हितं भितं चाद्यान्न वेगानीरयेद् बलात् न वेगितोडन्यकार्यः स्यान्नाजित्वा साध्यमामयम्।।

अर्थ : (स्वस्थ रहने के लिये)– पहले खाये हुये भोजन के पचने पर ही हितकर थोड़ा भोजन करना चाहिए। मल–मूत्र आदि को जबरदस्ती निकालने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। यदि मल–मूत्र बाहर निकलने का वेग आये, तो उन्हें रोकना नहीं चाहिए। मल–मूत्र को रोककर कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए। यदि शरीर में कोई साध्य रोग हो जाये तो पहले चिकित्सा के द्वारा इस रोग को ठीक किये बिना दूसरे कार्य नहीं करने चाहिए।

विश्लेषण : किसी स्वस्थ व्यक्ति का स्वास्थय नियमित रूप से बना रहे, इसके लिये दिशा निर्देश दिये गये हैं। जैसे–पूर्व में किये गये भोजन के समुचित पाचन के बाद ही दुबारा भोजन करना। शरीर के सभी रोगों का कारण पाचन की विकृति होती है। जब भोजन पचने के बाद फिर से शरीर के लिये हितकर और नपा–तुला (मिलकर) भोजन करने से पाचन की विकृति होने की संभ ावना नहीं होती है। किसी भी स्थिति में मल–मूत्र–छींक आदि को जबरदस्ती नहीं निकालना चाहिए। इससे शरीर में वायु (वात) की विकृति आती है। इसके साथ ही स्थानीय विकृति भी आ जाती है। इसके विपरीत मल–मूत्र–छींक जो स्वाभाविक रीतिसे निकलना चाहते हैं तो उन्हे रोकना नहीं चाहिए। इन्हें रोकने से अपान वायु विकृत होती है। इस अपान वायु की विकृति से ही हृदय रोग, उदर रोग आदि होते है। प्रथम अवस्था मे ंसभी रोग साध्य होते हैं, अर्थात उनकी चिकित्सा की जा सकती है। यदि प्रथम अवस्था में ही रोगों की चिकित्सा नहीं की जाय तो फिर कष्टकारक हो जाते हैं। बाद में फिर मृत्यू का कारण बनते हैं।

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः। सुखं च न बिना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत्।।

अर्थ : (सुख का कारण)– सभी प्राणी सभी कार्य सुख के लिये करते हैं सुख बिना धर्म के नहीं होता है। इसलिये सुख चाहने वालों को हमेशा धर्म का पालन करना चाहिए।

विश्लेषण : धर्म शब्द का सभी शास्त्रों में कुछ विशेष नियम पालन से सन्दर्भित है। अर्थात कुछ विशेषनियमों का पालन करने को ही धर्मपालन माना जाता है। धारयतेः इति धर्मः। अर्थात जो धारण करने योग्य नियम हैं, उनका पालन ही धर्म है। जो कोई भी इन विशेष नियमों के विपरीत आचरण करे वह अधर्म है। भारतीय शास्त्रों में अधर्म को पाप से और धर्म को पुण्य से भी निरूपित किया है। धर्म में सुख ही सुख है और अधर्म में दुःख ही दुःख है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी धर्म का विवेचन सद्वृत के रूप में किया गया है। सद्वृत का अर्थ है– सज्जनों का आचरण या अच्छा आचरण। अच्छे आचरण का नाम ही धर्म है।

भकत्या कल्याणनित्रानि सेवेतेतरदूरगः।।

अर्थ : कल्याण करने वाले मित्रो का साथ भक्तिपूर्वक श्रद्धा के साथ करना चाहिए। ह ानि करने वाले मित्र और शत्रु का साथ नहीं करना चाहिए।

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परूषानृते।। सम्मित्नालापं व्यापादमभिध्यांदृग्विपर्ययम्। पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्यजेत्।।

अर्थ : (दस पापकर्म) – हमारे शास्त्रों में दस पापकर्म बताये गये है।

(1) हिंसा (जीव–जन्तुओं को मारना)
(2) स्तेय (चोरी करना)
(3) अन्यथा काम (व्यर्थ का कार्य जिसका कोई फल नहीं हो)
(4) पैशुन्य (चुगली करना)
(5) परूष (कठोर वचन बोलना)
(6) अनृत (झूठ बोलना)
(7) सभिन्नालाप (ऐसा बोलना जिससे दो मित्रों में झगड़ा हो)
(8) व्यापाद (मारना–पीटना)
(9) अभिध्या (दूसरे की सम्पत्ति छीन लेना)

(10) दृग्विपर्यय (विपरीत समझ, माता–पिता, भाई–बहन को उल्टा समझना)
ऊपर दिये गये ये 10 पापकर्म हैं। इनका शरीर, वचन और मन से त्याग करना चाहिए।

अवृत्तिण्याधिशोकार्तानुवर्तेत शक्तितः। आत्मवत्सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्।।

अर्थ : वृति (जीविका) हीन, रोग से पीड़ित और शोक से पीड़ित व्यक्तियों की सहायता अपनी शक्ति के अनुसार करनी चाहिए। कीड़े और चींटी जैसे छोटे जीवों को भी सदा अपने जैसा ही समझ्ना चाहिए। जिस प्रकार हमें कष्ट होता है, उसी प्रकार इन्हें भी कष्ट होगा, यह जानकर उन्हें मारना नहीं चाहिए।

अर्चयेद देवगोविप्रवृद्ध वैद्य नृपातिथीन्। विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्।।

अर्थ : देवता, गौ, ब्राह्मण, वृद्ध, वैद्य, राजा और अतिथि का स त्कार करना चाहिए। आये हुये याचक को मना नहीं करना चाहिए। अपनी सामर्थ्य के अनुसार याचक को कुछ ना कुछ अवश्य देना चाहिए। याचक का तिरस्कार नहीं करना चाहिए और याचक पर आक्षेप नहीं करना चाहिए।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेडप्परौ।। सम्पद्विपत्स्वेकमना, हेतावीर्ष्येत् फले न तु।।

अर्थ : अपकार करने वाले शत्रु के विषय में भी उपकार की भावना रहनी चाहिए। सुख और दुःख में एक ही तरह से मन रहना चाहिए। सुख के समय अधिक हर्ष और दुःख के समय अधिक विषाद नहीं होना चाहिए। ईर्ष्या कारण में करनी चाहिए, फल में नहीं। यदि किसी व्यक्ति को उसके गुणों के कारण प्रतिष्ठा और धन प्राप्त हो तो उस व्यक्ति के धन और प्रतिष्ठा से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए। बल्कि उस व्यक्ति के गुणों से ईर्ष्या करके यह सोचना अच्छा है कि उस व्यक्ति के गुण मेरे में क्यों नहीं हैं ? अर्थात् गुणों पर नजर रखनी चाहिए। धन और प्रतिष्ठा पर नहीं।

काले हितं मितं ब्रयादविसंवादि पेशलम्। पूर्वाभिभाषी, सुमुखः, सुशीलः, करूणामृदुः।।

अर्थ : उचित काल में हितकर और विवाद रहित एवं स्पष्ट अर्थवाले वचनों को बोलना चाहिए। अपने पास कोई व्यक्ति आये तो प्रसन्न चित्त होकर सुन्दर आचरण दिखाते हुये कोमल वचन उससे बोलना चाहिए।

नैकः सुखी, न सर्वत्र विश्रब्धो न च शंङिकत। न कन्चिदात्मनः शत्रु नात्मानं कस्यचिद्रिणुम।।

अर्थ : भाई बन्धुओं के रहते, अकेले सुख का उपभोग नहीं करना चाहिए। सभी जगह विश्वास नहीं करना चाहिए। और ना ही सभी स्थानों पर शंका करनी चाहिए। यह मेरा शत्रु है या मैं इसका शत्रु हूं ऐसे वाक यों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

नीच रोमन खश्मश्रुनिर्मलाङ्घ्रिमलायनः।
स्नानशील ससुरभि सुवेषोडनुल्वणोज्जवलः।।

अर्थ : सिर के बाल, नाखून तथा दाढ़ी के बाल लम्बे नहीं रखने चाहिए। पैर, मलस्थान, मूत्रस्थान, नेत्र, नसिका आदि को हमेशा साफ और स्वच्छ रखना चाहिए। प्रतिदिन स्नान करना चाहिए। साफ एवं सुन्दर वस्त्र धारण करना चाहिए।

नासंवृतमुखः कुर्यात्, क्षुतिहास्यविजृम्भणम्।। नासिकां न विकुष्णीयात्ना कस्माइिलिखेद भुवम्। नाडैण्श्चेष्टेत विगुणं नासीतोत्कटकश्चिरम्।।

अर्थ : कपड़े से मुंह ढके बिना छीकंना, हंसना और जम्हाई नहीं लेना चाहिए। अर्थात छींकते समय, जम्हाई लेते समय और हंसते समय मुंह कपड़े से ढका होना चाहिए। यह अपनी और साथ बैठे हुय `लोगों की सुरक्षा के लिये अच्छा है। नाक में से फंसे हुये मल या गन्दगी को जबरदस्ती नहीं निकालना चाहिए। इसे आसानी से ही साफ करना चाहिए। इसी प्रकार कान का मैल, दांत में फंसे अन्नकण, आँखों का मैल भी जबरदस्ती नहीं निकालना चाहिए। बालों को भी बलपूर्वक नहीं निकालना चाहिए। अपने शरीर के अंगों को विकृत करने का प्रयास नहीं करें। अंगों को टेड़ा–मेड़ा करके नहीं बैठना और ना ही खड़े होना चाहिए। इससे कई रोग होने की संभावना रहती है।

देहवाक्चेतसां चेष्टाः प्राक् श्रमाद्विनिवर्तयेत। नोर्ध्वजानुश्चिरं तिष्ठेन्तत्रं सेवेत न द्रुयम।।

अर्थ : थकान आने के पहले ही शरीर, वचन और मन की चेष्टा को रोक देना चाहिए। रात्रि में वृक्ष की छाया में नहीं रहना चाहिए। क्योंकि दिन में वृक्ष गन्दी हवा (विषैली गैस–कार्बनडाई आक्साईड) को आत्मसात करके रात्रि को शेष गन्दगी बाहर छोड़ता है। अतः रात्रि को पेड़ की छाया में बैठने या सोने से रोग होने की संभावना होती है।

सर्वथेक्षेत नादित्यं, न भारं शिरसा वहेत्। नेक्षेत प्रततं सूक्ष्मं दीप्तामेध्याप्रियाणि च।।

अर्थ : सूर्य भगवान को ग्रहण के समय किसी भी तरीके से नहीं देखे। इससे नेत्र रोग होने की संभ्भावना होती है। अधिक भार को सिर पर रख कर नहीं ले जायें। इससे बुद्धि मंद होती है। सूक्ष्मवस्तु, सूक्ष्म दीप या रोशनी, अपवित्र मल–मूत्र आदि को नहीं देखना चाहिए। इन सभी से नेत्र रोग होने की संभावना रहती है।

मद्यविक्रयसन्धानदानादानानि नाचरेत्। पुरोवातात परजस्तुषारपरूषानिलान्

अर्थ : मदिरा का लेन–देन तथा उत्पादन नहीं करना चाहिए। सामने से आती हुयी हवा, सामने की धूप, सामने की धूलि, ओस और रूखी हवा का सेवन नहीं करना चाहिए।

अनुजुः क्षणथूद्गारकासस्वप्नान्न मैथुनम्। कूलच्छायां नृपदिण्टंम् व्यालदंष्ट्रिविषाणिनः।।

अर्थ : टेढ़े–मेढ़े आसन पर बैठना या सोना नहीं चाहिए। इसपर भोजन भी नहीं करना चाहिए। नदी तट की छाया, राजा का शत्रु, हिंसक जन्तु–जीव आदि, दांत से घात करने वाले सर्प आदि से हमेशा दूर रहना चाहिए।

हीनानार्यातिनिपुणसेवां विग्रहमुत्तमैः सन्ध्यास्वभहार स्त्री स्वपनाध्ययनचिन्तनम्।

अर्थ : दुष्ट और दुराग्रही की सेवा नहीं करनी चाहिए। अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति से झगड़ा नहीं करना चाहिए। सायंकाल गोधूलि के समय भोजन, मैथुन, शयन, अध्ययन, चिन्तन आदि नहीं करने चाहिए।

तृतीय अध्याय

ऋतुचर्या

दिनचर्या के अध्याय में जो कुछ भी दिया गया, वह 24 घंटे के दिन रात में किये जानेवाला आचरण है। अर्थात 24 घंटों में क्या–क्या करना चाहिए और क्या–क्या नहीं? यह जानकारी दिनचर्या के अध्याय से मिल गयी। अब आगे के लिये, किस ऋतृकाल में क्या करना चाहिए ? इस जानकारी के लिये ऋतुचर्या का अध्याय लिखा गया है। भिन्न–भिन्न ऋतुओं में भिन्न–भिन्न नियमों का पालन करके स्वस्थ रह सकते हैं। जैसे शीतकाल में गरम पानी से स्नान करना और गरम कपड़े पहनना अच्छा होता है। इसी तरह ग्रीष्मकाल में ठंडे पानी से नहाना और हलके कपड़े पहनने चाहिए। इसी तरह के अन्य कई नियम हैं, जिन्हें इस अध्याय में समझाया जायेगा।

मासैर्द्विसंख्यैर्माद्याद्यैः क्रमात् षड्तवः स्मृताः। शिशिरोडथ वसन्तश्च ग्रीष्मो वर्षाशद्विमाः।।

अर्थ : माघ मास से दो–दो महीनों के क्रम से 6 ऋतुयें होती हैं। ये ऋतुयें–(1) शिशिर (2) बसन्त (3) ग्रीष्म (4) वर्षा (5) शरद (6) हेमन्त

विश्लेषण : यहाँ माघ महीने से 2–2 महीने के 6 ऋतु होते हैं। लेकिन सुश्रुत ऋषि ने दोषों के संचय, प्रकोप के अनुसार 6 अन्य ऋतुओं को भी माना है। उन्होंने भाद्रपद व आश्विन को वर्षा ऋतु में माना है। कार्तिक एवं मार्गशीर्ष को शरद ऋतु में माना है। पौष व माघ को हेमन्त ऋतु में माना गया है। फाल्गुन एवं चैत्र को बसन्त ऋतु में माना जाता है। वैशाख एवं ज्येष्ठ को ग्रीष्म ऋतु में माना जाता है। आषाढ एवं सावन को वर्षा ऋतु में माना गया है। शारंगधर ऋषि ने ज्योतिष के आधार पर ऋतुओं का विभाजन इस प्रकार किया है– मेष और वृष राषि के संक्रान्ति का नाम ग्रीष्म ऋतु है। मिथुन और कर्क राशि के संक्रान्ति काल

को प्रवृट् ऋतु माना है। सिंह और कन्या के संक्रान्ति काल शरद ऋतु माना जाता है। धन ु और मकर की संक्रान्ति को हेमन्त ऋतु माना जाता है। कुम्भ एवं मीन राशि की संक्रान्ति को बसन्त ऋतु कहा जाता है। ज्योतिष ग्रन्थों में वृष एवं मिथुन को ग्रीष्म ऋतु में, कर्क एवं सिंह को वर्षा ऋतु में, कन्या एवं तुला को शरद ऋतु में, वृश्चिक एवं धन को हेमन्त ऋतु में, मकर एवं कुम्भ को शिशिर ऋतु में, मीन एवं मेष को बसन्त ऋतु में माना गया है। विद्वानों की इस बारे में थोड़ी मत भिन्नता होने के कारण संक्रान्ति काल को ही ऋतु का ध्रुव बनाना न्यायसंगत है। संक्रान्ति सूर्य की गति पर निर्भर होती है। जब फाल्गुन मा ह के शुरू में मीन संक्रान्ति है, तब फाल्गुन–चैत्र को बसन्त ऋतु माना जाता है। जब फाल्गुन के अन्त में मीन संक्रान्ति होती है तो चैत्र–वैशाख को बसन्त ऋतु माना जाता है। इस प्रकार वृष–मिथुन को ग्रीष्म, कर्क–सिंह को वर्षा, कन्या–तुला को शरद, वृश्चिक–धनु को हेमन्त, मकर–कुम्भ को शिशिर माना जात है। जब फाल्गुन में मीन संक्रान्ति होती है तो फाल्गुन–चैत्र को बसन्त, वैशाख–ज्येष्ठ को ग्रीष्म, आषाढ़–सावन को प्रावट्, भादों–क्वार को वर्षा, कार्तिक–अगहन को शरद, पूष–माघ को हेमन्त ऋतु माना जाता ह ै।
काश्यप संहिता के अनुसार गंगा के द क्षिण भाग में जल की वर्षा अधिक होती है। अतः दक्षिण भारत में प्रावृट् और वर्षा दो ऋतुयें होती हैं। हिमालय पर्वत क्षेत्र में शीत (ठण्ड) अधिक होता है। इसलिये हेमन्त और शिशिर दो ऋतुयें होती हैं। आयुर्वेद में यह सिद्धान्त है कि दोष का संचय जिस ऋतु में होता है, उससे अगली ऋतु में उसका प्रकोप होता है। तथा उससे आगे की ऋतु में उसका प्राशय होता है। यदि शिशिर ऋतु को लेकर ' ऋतु माना जाय तो हेमन्त में संचित कफ को शिशिर में कुपित होना चाहिए। पर यह प्रत्यक्ष में दिखायी देता है कि कफ का प्रकोप बसन्त में ही होता है। इस पक्ष में शिशिर में किसी भी दोष का संचय एवं प्रकोप नहीं होता है। इसलिये आयुर्वेद के विद्वानों ने प्रावृट् ऋतु को लेकर 6 ऋतुओं को माना है। उसके अनुसार ग्रीष्म में वात का संचय, प्रावृट् में प्रकोप और वर्षा में उपशम, पित्त का वर्षा में संचय शरद में प्रकोप, हेमन्त में उपशम, कफ का हेमन्त में संचय, बसंत में प्रकोप एवं ग्रीष्म में उपशम होना माना जाता है। जिस पक्ष में शिशिर, बसन्त ऋतुओं का जो वर्णन किया गया है, वह संक्रान्ति के अनुसार किया गया है। कुछ विद्वान गर्मी, सर्दी, वर्षा तीन ही ऋतु को मानते हैं। आयुर्वेद में दोष संचय के अनुसार 6 ऋतुयें मानी जाती है।

शिशिराद्यास्त्रिभिस्तैस्तु विद्यादयनमुत्तरम्। आदानं च तदादत्ते नृणां प्रतिदिनं बलम्।।

अर्थ : शिशिर, बसन्त, ग्रीष्म इन तीनों ऋतुओं को उत्तरायण ा भी कहा जाता है। यह उत्तरायण मनुष्यों के बल को ले लेता है इसलिये इसे आदान काल कहते हैं।

तस्मिन् हत्त्यर्थतीक्ष्णोण्णरूक्षा मार्गस्वभावतः आदित्यपवनाः सौम्यान् क्षपयन्ति गुणान भुवः तिक्त कषायः कटुको बलिनोडत्र रसाः क्रमात तस्मादादानमाग्नेयम्–

अर्थ : उत्तरायण में बल की कमी होती है। क्योंकि उत्तरायण में सूर्य के अपने मार्ग के स्वभाव से अत्यन्त तीक्ष्ण होता है। उत्तरायण में वायु भी अत्यधिक रूक्ष होती है। उत्तरायण में सूर्य और वायु मिलकर पुथ्वी की सौम्यता खत्म कर देते हैं। क्रमशः शिशिर में तिक्त बसन्त में कषाय और ग्रीष्म मे ं कटुरस बलवान होते हैं। अतः इस आग्नेय काल का नाम आदान है।

विश्लेषण : स्वभाव से सूर्य का गमन मार्ग मकर, कुम्भ और मीन राशि पर है। जब इन राशियों पर सूर्य चलता है तो वह अत्यन्त ही गर्म हो जाता है। जिससे वायु भी गर्म और रूक्ष हो जाती है। ये गर्म और रूक्ष वायु पृथ्वी के सौम्य और शीतल गुणों का शोषण करते हुये शरीर के सौम्य गुणों का भी शोषण करती है। इससे शरीर दुर्बल हो जाता है। इसलिये इस काल को आदान काल भी कहा जाता है।

ऋतवो दक्ष्ज्ञिरगायनम्।। वर्षादयो विसर्गश्च यद्बलं विसृजत्ययम्।
सौम्यत्वादत्र सोमो हि बलवान् हीयते रविः।।

अर्थ : वर्षा शरद, हेमन्त इन तीन ऋतुओं का नाम दक्षिणायन है। यह काल प्राणियों में बल को देता है इसलिये इसका अन्वर्थ नाम विसर्ग काल भी है। यह काल सौम्य है, अतः सोम (चन्‍ द्रमा) बलवान

होता है और सूर्य दुर्बल होता है अर्थात् सूर्य दक्षिण की ओर गमन करने लगता है। तो मार्ग स्वभाव से यह क्षीण बल होता है फलःस्वरूप चन्द्रमा बलवान हो जाता है जिससे बल की वृद्धि होती है।

मेघवृश्टयनिलैः शीतैः शान्ततापे महीतले। स्निग्धाश्चेहाम्ललवणमधु्रा बलिनो रसाः।।

अर्थ : ग्रीष्म काल में पृथ्वी अधिक उष्ण होती है जब और वर्षा से पृथ्वी का ताप और वायु शीतल हो जाता है तो स्निग्ध अम्ल लवण मधुर रस बलवान हो जाते है।

विश्लेषण : पृथ्वी के शीतल हो जाने पर अम्ल लवण मधुर रस क्रमशः वर्षा शरद और हेमन्त में और बलवान होते है। सौम्य रस बल को बढ़ाने वाला होता है और सूर्य के दुर्बल होने से शरीर के सौम्याशं का शोषण भी नही होता है क्रमशः ये स्निन्ध रस बल को बढ़ाने वाले होते हैं।

शीतऽग्र्यं वृष्टिधर्मेऽल्पं बलं मध्यं तु शेषयोः।

अर्थ : शीत काल में उत्तम रूप से बल की वृद्धि रहती है वर्षा और ग्रीष्म काल में बल अल्प ही जाता है शेष शरद् और बसन्त में बल मध्यम रूप से रहता है।

विश्लेषण : तात्पर्य यह है कि आदान काल में बल का ऱ्हास होना प्रारम्भ हो जाता है जो क्रमशः ग्रीष्म ऋतु में अत्यल्प हो जाता है। और विसर्ग काल में क्रमशः बल बढ़ने लगता है। जो हेमन्त ऋतु में उत्तम रूप से बढ़ जाता है। इस प्रकार आदान काल के अन्तिम ऋतु ग्रीष्म में अत्यल्प बल विसर्ग काल के आदि वर्षा ऋतु में बहुत ही अल्प बल बढ़ता है इस लिए ग्रीष्म और वर्षा में अल्प बल रहता है, विसर्ग काल का अन्त हेमन्त में उत्तम बल बढ़ता है। आदान काल के प्रथम शिशिर ऋतु में बहुत ही कम बल घटता है। अतः शीत काल (हेमन्त शिशिर) में बल श्रेष्ठ रूप में रहता है। आदान और विसर्ग इन दोनों कालों का मध्य शरद और वसन्त है। उसमें मध्यम बल रहता है। यद्यपि वसन्त आदान काल है। और उसमें अत्यन्त तीक्ष्ण उष्ण रूक्ष सूर्य और पवन बल बढ़ने का कारण सौम्य रस का शोषण कर लेते हैं तो वसन्त में बल का ऱ्हास होना चाहिए किंन्तु वर्षा आदि ऋतुओं में क्रमशः बढ़ा हुआ बल क्रम से ही अल्प होता है। बसन्त के पहले शिशिर में बल उत्तम रूप से रहता है अतः क्रमशः घटते हुए बसन्त में अथवा शरद में मध्य बल ही रहता है।

बलिनः शीतसंरोधाद्धेमन्ते प्रबलोऽनलः। भवत्यल्पेन्धना धातून् स पचेद्वायुनेरितः।
श्रतो हिमऽस्मिन्सेवेत स्वाद्वम्ललवरगान् रसान्।।

अर्थ : हेमन्त ऋतुचर्या–विसर्ग काल में स्वभावतः बल की वृद्धि होती है विशेषकर हेमन्त जो विसर्ग का अन्तिम ऋतु है, उस समय प्राणियों का बल स्वभावतः बढ़ा रहता है, इसलिए बलवान व्यक्तियों के शरीर में शीतल वातावरण के कारण शरीर से उष्मा बाहर न निकालते हुए जठराग्नि को प्रबल बनाता है, यदि इस काल में उस जठराग्नि के ऊपर अल्प ईंधन (भोजन) दिया जाय तो वायु से प्रेरित वह जठराग्नि धातुओं को पचाने लगता है। अतः इस हेमन्त ऋतु में मधुर अम्ल और लवण रसों का अधिक रूप में सेवन करना चाहिए।

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेव बुभुक्षितः। अवश्यकार्यं सम्भाव्य यथोक्तं शीलयेदनु। वातघ्नतैलैरम्यगं मूर्ध्निं तैलं विमर्दनम्। नियुद्धं कुशलैः सार्द्धं पादाघातं च युक्तितः।।

अर्थ : हेमन्त काल में रात्रि के बढ़े होने से प्रातःकाल में ही भूख क्षुधा अधिक लग जाती है, अतः आवश्यक मल, मूत्रादि का त्याग कर इस ऋतु में वातनाशक तैलों का मस्तक के ऊपर अभ्यड (तेल मालिश) और शरीर में तेल का मालिश कुशल शिक्षित व्यक्तियों के साथ कुस्ती लड़ना और पादाघात अर्थात् पैर से य ुक्ति पूर्वक मर्दन कराना चाहिए।

कषायापहृतस्नेहस्ततः स्नातो यथाविधि। कुङ्कुमेन सदर्पेण प्रदिग्धो ऽगुरूधूपितः।।

अर्थ : इसके बाद कशाय रस प्रधान आमला, चने का बेसन आदि द्रव्यों का सिर पर मालिश कर तेल की स्निधता को दूर कर विधि पूर्वक स्नान करना चाहिए। स्नान के बा द केशर कस्तूरी को शरीर में लगाकर अगर के धूआँ से अपने शरीर को धूपित करना चाहिए।

रसान् स्निग्धान् पलं पुष्टं गौडज्ञमच्छसुरां सुराम्।। गोधूमपिष्टमाषेक्षुक्षीरोत्थविकृतीः शुभाः।। नवमन्नं वसां तैलं, शौचकार्ये सुखोदकम्।

अर्थ : स्निग्ध रसों से युक्त भोजन पदार्थ गुड़ से बने हुए पदार्थ, मालपूआ आदि गोधूम, (गेहूँ) का आटा, उड़द से बने बड़ा, ईख का रस या गन्ने से बने पदार्थ चीनी, गुड़, दूध की मलाई, रबड़ी, नूतन अन्न और तैल का सेवन करना चाहिए। मलत्याग करते समय उष्ण जल का प्रयोग करना चाहिए।

प्रावराजिनकौशेयप्रवेणीकौचवास्तृतम्। उष्णस्वभावैर्लधुमिः प्रावृतः शयनं भजेत्।
युक्त्याऽर्ककिरणान् स्वेदं पादत्राणं च सर्वदा।।

अर्थ : वस्त्र–इस काल में प्रावार–कम्बल अथवा सूती वस्त्र से बने हुए मोटा वस्त्र या रजाई, अजिन–मृगचर्म, कौशेय, कोशा–रेशम का वस्त्र। प्रवेणी–कथरी जो तागे से अधिक सीबन किया गया हो, कौचव–रंगीन कम्बल इन उष्ण स्वभाव वाले हल्के वस्त्रों को बिछाना और ओढ़ना चाहिए। इस काल में शयन करने के स्थान को परदे आदि से घिरा हुआ रहना चाहिए या गृह के भीतर दरवाजे बन्द कर शयन करना चाहिए। सूर्य का किरण अर्थात् धूप का सवेन युक्तिपूर्वक अर्थात् थोड़े समय तक पीठ के ऊपर धूप लगाना चाहिए, स्वेद अर्थात् अग्नि तापना, जूता, खराऊँ का धारण सर्वदा करना चाहिए।

श्रङ्गारतापसन्तप्तगर्भभूवेश्म वारिरगः। शीतपारूष्यजनितो न दोषो जातु जायते।।

अर्थ : अग्नि, टंगार के ताप से गरम किया हुआ गर्भगृह और भूवेश्म (तहखाना) में रहने से अथवा भ्रमण करने से शीत और रूक्ष के कारण होने वाले दोष शरीर में नहीं हो पाते हैं।

विश्लेषण : शीत काल में इन विधियों को करने से व्यक्ति स्वस्थ रहता है। उन विधियों का जहां उल्लेख किया गया है किन्तु ऐसी विधियों का यहां उल्लेख है जो वर्तमान समय में करना कठिन ही नही किन्तु दुष्कर है इसलिये संक्षेप में वर्तमान काल में सुलभ कार्य इस विधि से करना चाहिए–शीतकाल में शरीर के भीतर उष्णता अधि रहती है क्योंकि शरीर की उष्मा वातावरण के शीतल रहने से बाहर नहीं निकल पाती इसलिये अठराग्नि तीव्र रहती है रात बड़ी होती है अतः प्रातःकाल ही भूख लग जाती है अतः मल–मूत्रादि त्याग के बाद तेल का मालिश कर आंवला, रीठा एवं शिकाकाई से सिर को धोकर स्नान करना चाहिए। इसके बाद गेहू चावल उड़द दाँल से बने आहार जो विशेष कर नया हो इस काल में मक्खन मलाई, रबड़ी और मधुर चीनी मिश्री तथा गरिष्ट मालपूआ, पूरी कचौड़ी परौठा और सभी प्रकार के मिष्ठान्न आहार में लेना चाहिए रात में शयन या दिन में बैठना आदि घिरे हुए गृह में करना चाहिए जहां हव ा की गति तीव्र न लग सके। उनी वस्त्र अथवा सूती वस्त्र जो मोटा हो उसे शरीर पर धारण करना चाहिए। विस्तर और आच्छादन के काल में लेना चाहिए। इस काल में मैथुन तथा स्त्री के साथ शयन भी शीत को दूर करता है और अग्नि से गर्म किए हुए जैसे, वर्तमान काल में तापनियंत्रित गृह में यदि रहा जाय तो उत्तम होता है।

अयमेव विधिः कार्यः शिशिरेऽपि विशेषतः। तदा हि शीतमधिकं रौक्ष्यं चादानकालजम्।।

अर्थ : शिशिर ऋतुचर्या–शिशिर ऋतु में भी ऊपर बतायी हुई हेमन्त ऋतु की सभी विधि पालन करनी चाहिए। विशेष रूप से इस काल में शीत जाड़ा की वृद्धि हो जाती है और आदान काल के प्रारम्भ होने से रूक्षता अधिक बढ़ जाती है।

विश्लेषण : तात्पर्य यह है कि हेमन्त ऋतु विसर्ग काल का अन्तिम समय होता है। उसमें सौम्य धातु एवं रस की वृद्धि होती है हेमन्त और शिशिर दोनों ऋतुयें शीतल होती है। प्रायः यह देखा जाता है कि शिशिर में वृष्टि और बादल अपने दिखायी पड़ते हैं जो शीत बढ़ाने में सहायक है। आदान काल में सूर्य तीव्र होता है सौम्य रसों का एवं शरीर के सौम्य रसों का भी शोषण करता है। इसलिये शिशिर ऋतु में निर्वात स्थान और उष्ण घर में निवास करना चाहिये। और अन्य जो हेमन्त की विधियां हैं उन विधियों का पालन दृढ़ता पूर्वक करनी चाहिए।

कफश्चितो हि शिशिरे वसन्त९र्कांशुतापित। हत्वा९ग्निं कुरूते रोगानतस्त त्वरया जयेत्।।

अर्थ : वसन्त ऋतुचर्या–शिशिर ऋतु में स्वभावतः कफ का संचय होता है। वसन्त में सूर्य किरणों से तप्त होकर अग्नि को नष्ट कर कफजन्य रोगों को उत्पन्न करता है। इसलिये शीघ्र ही कफ को दूर करने के लिये उपाय करना चाहिए।

तीक्ष्णैर्वमननस्याद्यैर्लघुरूक्षैश्च भोजनैः। व्यायामोद्वर्तनाघातैर्जित्वा श्लेष्माणमुल्बरगम्।। स्नातो •नुलिप्तः कर्पूरचदनागुरूककुङ्कुमैः।

अर्थ : कफ दूर करने का उपाय– तीव्र वमन नस्य आदि का प्रयोग लघु एवं रूक्ष आहार द्रव्यों का प्रयोग, व्यायाम अपटन आघात (शरीर का मर्दन) कर बढ़े हुए कफ पर विजय प्राप्त करें। प्रातःकाल स्नान के बाद कर्पूर मिला हुआ चन्दन का लेप एवं अगरू के धूप को शरीर में लगाकर केशर का लेप करें।

पुराणयवगोधूक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुक्। सहकारसोन्मिश्रानास्वाद्य प्रियया •र्पितान्। प्रिया९९स्यसगंसुरभीन प्रियानेत्रोत्पलाङ्क्तिान्। सौमनस्यकृतो हृद्यान्वयस्यैः सहितः पिबेत्। निगदानासवारिष्टसोधुमार्द्वीकमाधवान्। शृगंबेराम्बु साराम्बु मध्वम्बु जलदाम्बुच।

अर्थ : भोजन–इस काल में पुरान यव गेहूँ मधु जाङ्गल तथा आम के रस से युक्त प्रिय स्त्री द्वारा स्वाद लेकर दिये गये, प्रिय स्त्री के मुख की वायु से सुगन्धित प्रिय स्त्री के नेत्र–रूपी कमलों से देखे गये, अच्छी प्रकार बनाये हुए हृदय के अनुकूल *निर्गद आसवारिष्ट, सिंधु, द्राक्षारिष्ट माध्वीक* को अथवा अदरख से युक्त जल अथवा विजयसार से वाशित जल या मधु और जल या नागरमोथा से पकाया हुआ जल मित्रों के साथ बैठकर पीवे।

दक्षिरगानिलशीतेषु परितो जलवाहिषु। अदृष्टनष्टसूर्ष्टेषु मरिगकुट्टिमकान्तिषु। परपुष्टविघुष्टेषु कामकर्मान्तभूमिष। विचित्रपुष्पवृक्षेषु काननेषु सुगन्धिषु। गोष्ठीकथाभिश्चित्राभिर्मध्याह्नं गयमेत्सुखी। गुरूशीतदिवास्वप्नस्निग्धाम्लमधुरांस्त्यजेत्।।

अर्थ : मध्याह्न में विश्राम स्थान–जिस स्थान पर दक्षिण वायु के लगने से शीतलता आ गयी हो चारों तरफ फुहारे का जल अथवा चारों तरफ झरने का जल गिर रहा हो, सघन लता इत्यादि से न दिखायी पड़ने के कारण सूर्य नष्ट प्रतीत होते हो, मणि, रत्न, आदि जिस चबूतरे आदि में जड़े हुये हों, कोयल का शब्द सुनाई पड़ता हो मैथुन करने की सभी सामग्रियां उपलब्ध हों रंग विरग के पुष्प और वृक्षों के सुगन्ध से सुगन्धित वन या वाटिका हो ऐसे स्थान पर अनेक प्रकार की कथा, वार्ता करते हुए मित्र मण्डली के साथ सुख पूर्वक मध्याह्न का समय बीतायें। वसन्त ऋतु में त्याज्य–इस काल में गुरू (गरिष्ठ) और शीतल आहार, दिन में शयन, स्निग्ध एवं अम्ल और मधुर रसों का सेवन न करें।

विश्लेषण : शिशिर में संचित कफ वसन्त में कुपित होकर अग्नि मन्द कर देता है। इस लिये शिशिर की अपेक्षा हल्का भोजन करना चाहिये। व्यायाम का सेवन जैसा कि–*बसन्ते भ्रमणं पथ्यं*, बताया है। प्रातःकाल भ्रमण और व्यायाम का सेवन आवश्यक होता है। प्रातःकाल धूम्रपान और उष्ण जल में नमक मिलाकर बार बार कुल्ला करना चाहिये। यदि कफ की अधिकता प्रतीत हो तो सेधा नमक गर्म जल में मिलाकर पिलाना चाहिए। इससे वमन होकर कफ निकल जाता है।

भोजन में जो, गेहूं अरहर, आदि अन्न पुराना लेवें। और मधु का सेवन अधिक रूप में करे। इस ऋतु में सूर्यसन्ताप के बढ़ने से गर्मी लगने का भय अधिक रहता है इसलिये कच्चे आम को आग में भूज कर पीस कर पुदीना, चीनी, काला नमक मिलाकर दिन में एक दो बार लेना चाहिये, विशेष कर हरे भरे बाग बगीचों में रहने का प्रयास करना चाहिये।

तीक्ष्णांशुरतितीक्ष्रगांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतौव यत्। प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते। अता९स्मिन्पटुकट्वम्लव्यायामार्ककरांस्त्यजेत्। भजेन्मधुरमेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम् सुशीततोयसिक्तागो

लिह्यात्सक्तून् सशर्करान्।। मद्यं न पेयं, पेयं वा स्वल्पं, सुबहुवारि वा। अन्यथा शोषशैथिल्यदाहमोहान् करोति तत्।।

अर्थ : ग्रीष्म ऋतुचर्या– इस काल में सूर्य अत्यन्त तीक्ष्ण किरणों को भूमि भाग में फेकता है इस कारण प्रतिदिन कफ क्षीण होता है और वायु की वृद्धि होती है। इस लिये इस काल में बलनाशक लवण कटु अम्ल रसों का सेवन, व्यायाम और धूप को सेव न नहीं करना चाहिये। भोजन में मधुररस प्रधान लघु, स्निग्ध, शीतल और द्रव आहार का सेवन करना चाहिए। विशेष कर शीतल जल से स्नान कर गुड़ मिले हुये सत्तू को धोलकर पीना चाहिये, इस काल में मद्य का सेवन नहीं करना चाहिये यदि इन नियमों का पालन न किया जाय तो शरीर में शीथ–शिथिलता, दाह और मोह (मूर्च्छा) रोग हो जाते हैं।

कुन्देन्दुधवलं शालिमश्नीयाज्जागंलैः पलैः। पिबेद्रसं नातिघनं रसालां रागषाडवौ।
पानकं पञचसारं वा नवमृद्राजने स्थितम्। मोचचोचदलैर्युक्तं साम्लं मृन्मयशुक्तिभिः। पाटलावा सितं चाम्भः सकर्पूरं सुशीतलम्। शशाङ्कं किररगान् भक्ष्यान् रजन्यां भक्षयन् पिवेत्।। ससितं माहिषं क्षीरं चन्द्रनक्षत्रशीतलम्।।

अर्थ : कुन्द के फूल और चन्द्रमा के समान शवेत और शीतल चावल का भात के साथ भोजन करे। तथा रसाला, पके आम के रस में गुड़ मिलाया हुआ राब, मधुर, अम्ल, लवण रस से बनाया पानक, षांडवा, मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय रस बनाया हुआ पानक अथवा पत्रचसार पानक (मधु, खर्जूर, मुनक्का, फालसा, और जल मिलाया हुआ जो कि सत्तू या धान के लावा की सत्तू घी मिलाया हुआ) इन पानको को नये मिट्टी के पात्र में रखकर मोच, (केला) का फल चोंच, (कच्ची गरी या केला), नारिकेल की पत्ती को जल में रखकर खट्टा अनार दाना से उसे अम्ल बनाकर मिट्टी की कसोरे से पिलाना चाहिये। गुलाब के फूल से सुवासित कर्पूर मिला हुआ शीतल जल मिट्टी के ढक्कन से पीना चाहिए। रात्री में सषांक किरण नामक भक्ष्य पदार्थ को कर्पूर मिलाकर बनाया हुआ बड़ा आदि खाते हुए चन्द्रमा के किरण में रखने से शीतल गुड़ मिलाकर दूध पीवे।

अभ्रङक्षमहाशालतालरूद्धोष्गरश्मिषु। वनेषु माधवीश्लिष्टद्राक्षास्तबकशालिषु। सुगन्धि ाहिमपानीयसिच्यमानपटालिके। कायमाने चिते चूतप्रबालफललुम्बिभिः। कदलोदलकह्वारमृणालकमलोत्पलैः। कोमलैः कल्पिते तल्पे हसत्कुसुमपल्लवे। मध्यंदिने९ र्कतापार्तः स्वप्याद्धारागृहे•थवा। पुस्तस्त्रीस्तनहस्तास्यप्रवृत्तोशोरबारिणि।

अर्थ : अभ्रर्कष–अर्थात् आकाश को छूने वाले बड़े–बड़े सखुआ ताल के पेड़ों के द्वारा जिस पर माधवी, वासन्ती फूल और अंगूर आदि लता और उनके गुच्छों से पेड़ धने हो ऐसे बनों में मध्याह्न काल में निवास करें। अथवा सुगन्धित शीतमल, जल छिड़का गया हो ऐसे परदे वाले, आम के कोमल पत्तों और फलों के गुच्छों से बने हुए बन्दनवार से युक्त बांस मूज के छप्परों से बने हुए केला की पत्ती, सुगन्धित कमल, मृणाल, नील कमल के कोमल पत्तों से सजाये गये गृह में एवं जिस चारपाई पर कोमल पत्ती और फूल खिले हुयें हो ऐसे खाट पर बैठकर ग्रीष्म काल में सूर्यताप से तप्त व्यक्ति मध्याह्न काल का यापन करे। अथवा जिस घर में फुहारा स्त्री के रूप में बनी हो और उस स्त्री के स्तन, हाथ, मुख के श्वास से सुवासित सुगन्धित जल गिर रहा हो ऐसे घर में मध्याह्न समय बितावे।

निशाकरकारकीर्णे सौधपृष्ठे निशासु च। आसना स्वस्थचितस्य चन्दनार्द्रस्य मालिनः। निवृतकामतन्त्रस्य सुसूक्ष्मतनुवाससः।
जलाद्रस्तिालवृन्तानि विस्तृताः पदिमनीपुटाः। उत्क्षेपाश्च मृदत्क्षेपा जलवर्षिहिमानिलाः। कर्पूरमल्लिकामाला हाराः सहरिचन्दनाः। मनोहरकलालापाः शिशवः सारिकाः शुकाः। मृरगालवलयाः कान्ताः प्रोत्फुल्लकमलोज्ज्वलाः। जङ्गमा इव पद्मिन्यो हरन्ति दयिताः क्लमम्।।

अर्थ : रात्री काल में चूना लगाये हुये श्वेत कोठे के ऊपर जहाँ चन्द्रमा का किरण उत्तम रूप से लग रहा हो ऐसे कोठे पर स्वस्थ चित्त होकर बैठे अथवा शयन करे। उस समय चन्दन लगाने से शरीर को गीला करता रहे। सगन्धित फूलों की माला पहने। मैथुन से बिलकुल दूर रहे लघु एवं महिन शवेत वस्त्र का धारण करे। जल से भिगोये हुए ताड़ पंखा अथवा कमल की पत्ती से वने हुए पंखा के द्वारा उस पंखे की हवा

धीरे–धीरे ले। कर्पूर मल्लिका, बेला फूल की माला जिस पर चन्दन का लेप किया हो उसे पहन ले। सुन्दर आलोप (बात चीत करने वाले) बालक, सारिका, सूगा हो तथा मृणाल बलय (वेरवा), वाली, खिले कमल पुष्प की तरह मुख वाली और पद्मिनी (कमल का पत्रचाङ्ग) की तरह चलने फिरने वाली मनोहर स्त्री थकावट को दूर कर देती है।

विश्लेषण : यह ऊपर की सारी विधियां उन व्यक्तियों के लिये है। जिन्हें कोई कार्य न हो केवल विलास मय जीवन बिता रहे हों। वर्तमान काल में ये सब असम्भव सा है। संक्षेप में इस काल में वायु की वृद्धि होती है इसलिये मधुर रस प्रधान भोजन शी तल जल सत्त् का सेवन, पुराने चावल का भात, आम का पानक पीना चाहिये। मिट्टी के पात्र में रखे खस से सुगन्धित जल का सेवन करना चाहिए। जो व्यक्ति मदिरा पीता हो उसे मद्य नहीं पीना चाहिये। क्योंकि मद्य अम्ल और उष्ण होता है। इससे गरमी के दिनों में हानि हो जाती है। क्यांकि अम्ल और उष्ण से पित्त की अधिकता होती है। जिससें कफ का क्षय होता रहे। यदि व्यक्ति कफ पित्त प्रकृति का हो तो उसे अधिक जल पीना चाहिए। इस ऋतु में वेला की फूलों की माला पहनना शरीर के लिए लाभ कर है।

रसाला–यह श्रीखंड शब्द से मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र विशेषकर में मिलता है। दही का जल निकाल कर केसर आदि सुगन्धित वस्तु और चीनी मिलाकर पानक बनाया जाता है। पदार्थ चन्द्रिका में चीनी का शर्बत लिखा है।

राग–गुड़–दाडिम–मासाद्यारागाश्चांशुकगालिताः।
खाडव–'स्वादम्लपटुकटुंबाद्याप्रले हस्तत्र खाडवा। पत्रचसारपानक–मधुखर्जूर मृद्विका परूषकसिताम्भसा।
मन्थोवा पञ्चसारेण सघृतैःलाजशक्तुभिः।। तुल्यांशैः कल्पितं पूर्त शीतं कर्पूरवासितम्।। पानकं पंचसाराख्यं दाहतृष्णानिवर्त्तकम्।।''

इस प्रकार राग, खाडव और पञ्चसार पानक बनाने की विधियां बताई गई हैं।

आदानग्लानवपुषामग्निः सन्नोऽपि सीदति। वर्षासु दौषैर्दुष्यन्ति तेऽम्बुलम्बाम्बुदेऽम्बरे।।
सतुषारेण मरूता सहसा शीतलेन च। भूबाष्पेरगाम्लपाकेन मलिनेन च वारिणा।। वह्निनैव च मन्देन, तेष्वन्योन्यदूषिषु। भजेत्साधारणं सर्वमूष्मरगस्तेजनं च यत्।। आस्थापनं शुद्धतनुर्जीर्णं धान्यं रसान् कृतान्। जागंर्ल पिशितंयूषान् मध्वरिष्टं चिरन्तनम्।। मस्तु सौवर्चलाडयं वा पन्चकोलावचूर्रिगतम्। दिव्यं कौपं शृंत चाम्भो भोजनं त्वतिदुर्दिने।। व्यक्ताम्ललवरगस्नेहं संशुष्कं क्षौद्रवल्लघु। अपादचारी सुरभिः सततं धूपिताम्बरः।। हर्म्यपृष्ठे वसेद्बाष्पशीतशीकरवर्जिते। नदीजलोदमन्थाहःस्वप्नायासान्परित्यजेत्।।

अर्थ : वर्षा ऋतुचर्या–आदान काल में प्रत्येक व्यक्ति का शरीर मलिन रहता है। अतः अग्नि भी दुर्बल होती है। वह अग्नि वर्षा ऋतु में जब जल से भरे लम्बे–लम्बे मेघ आकाश में आते हैं तो, दोषों के प्रकोप से अग्नि और अधिक मन्द हो जाती है। अग्नि के मन्द होने से, तुषार युक्त सहसा शीत वायु की वृद्धि से वायु जल वर्षा से निकलते हुए पृथ्वी के वाष्प से, खाये हुये आहार का अम्ल पाक होने से, जल के गन्दे होने और अग्नि के मन्द होने से खाये हुए आहार का समुचित पाचन न होने से दोष दूषित हो जाते हैं, इस प्रकार अग्नि के मन्द होने से समुचित पाचन का अभाव और भूवाष्प गन्दे जल शीतल वातावरण से अग्नि मन्द हो जाती है, इस प्रकार दोष अग्नि को और अग्नि दोषो को दूषित करने वाले होते है। इसलिये सामान्यतः अग्नि को तीव्र करने वाले आहार विहार का सेवन करना चाहिए। दोषों की शुद्धि के लिये आस्थापन (अर्थात् निरूहवस्ति) से शरीर की शुद्धि के लिये आस्थापन (अर्थात् निरूहवस्ति) से शरीर की शुद्धि हो जाने पर पुराना अन्न मूंग आदि द्विदल वर्ग का यूष, पुराना मधु, पुराना अरिष्ट अथवा द्राक्षारिष्ट सोचर नमक मिलाया हुआ अविा पत्रचकोल (''पिप्ली पिप्ली मूल चव्य चित्रक नागरः'') का चूर्ण मिलाया हुआ दही का पानी आकाश का जल या कुएँ का जल या गर्म किया हुआ जल पीने के लिए प्रयोग में लाना चाहिए। यदि इस ऋतु में दुर्दिन हो अर्थात् अधिक मेघा आँधी तूफान हो तो उसदिन जो भी आहार सेवन करे, वह, अम्ल, लवण, और स्नेह से युक्त एवं सूखा हो उसमें मधु मिला हो। ऐसे लघु गुण युक्त आहार का सेवन करना चाहिए। इस काल में शरीर में इत्र आदि सुगन्धित वस्तुओं का लेप और अगर के धूयें से धूपित वस्त्रों को पहनना चाहिए।

और जहाँ पृथ्वी का वाष्प या शीत, शीकर (फहारा) न आता हो ऐसे कोठे के छत के ऊपर रहना चाहिये। वर्षा ऋतु में त्याज्या वस्तु–नदी का जल सत्तू दिवा स्वप्न अधिक परिश्रम और अधिक धूप का सेवन नहीं करना चाहिये।

विश्लेषण : संक्षेप में वर्षा ऋतु मे ं अग्नि बहुत हो भन्द रहती है उसके मन्द होने के कारण गर्मी के दिनों में पसीना के द्वारा उष्मा का बाहर निकल जाना होता है। वर्षा के दिनों में वातावरण के शीतल होने पर भी पसीने का निकलना बन्द नहीं होता। इस लिये अग्नि बाहर निकलती रहती है। वर्षा काल में गर्मी क` दिनों में संन्तप्त पृथ्वी जल के गिरने से शीतल होती है किन्तु बाष्प अधिक निकल कर शरीर को दूषि त करता है। पीने के लिये गंन्दा जल ही मिलता है जो अधिक गरिष्ट होता हैं। स्वाभावतः मन्द अग्नि आहार मिलेगा तो उसका पाचन नहीं ही हो पाता है। पृथ्वी से गर्म– गर्म वाष्प निकलने से दोष कुपित होते हैं इसलिए इस ऋतु में हलका मूंग यव गेहूं चावल आदि का प्रयोग करना चाहिए। शाकाहारी व्यक्तियों के लिये पर्याप्त मात्रा में सोचर नमक मिलाकर दही का पानी कूप जल को गरम कर पीना चाहिए। और विशेष कर जब अधिक वर्षा या हवा हो तो हल्का और सूखा आहार में पर्याप्त अम्ल नमक घृत मिलाकर लेना चाहिए। इस ऋतु में नदी का जल सत्तू कदाऽपि नहीं खाना चाहिये व्यायाम, दिन में शयन और धूप में अधिक बैठना नहीं चाहिए।

वर्षाशीतोचितागानां सहसैवार्करश्मिभिः। तप्तानां सन्चितं वृष्टौ पित्तं शरदि कुप्यति।। तज्जयाय धृतं तिक्तं विरेको रक्तमोणगम्। तिक्तं स्वादु कषायं च क्षुधितो•न्नं भजेल्लघु।। शालिमृद्गसिताधात्रीपटोलमधुजागंलम्।
तप्त तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः।। समन्तादप्यहोरात्रमगस्त्योदयनिर्विषम्।
शुचि हंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम्।। नाभिष्यन्दि न वा रूक्षं पानादिरष्वमृतोपमम्।
चन्दनोशीरकर्पूरमुक्तास्त्रग्वसनोज्ज्वलः।। सौधेषु सौधधवलां चन्द्रिकां रजनीमुखे।

अर्थ : शरद ऋतुचर्या–वर्षाकाल में प्रत्येक व्यक्ति को शीत अभ्यस्त हो जाता है, ऐसे व्यक्ति के अंगों में सहसा सूर्य की ती व्र किरणों के लगने से शरीर गर्म हो जाता है, अतः वर्षाकाल में संचित पित्त को जीतने के लिए तिक्त घृत का सेवन जो (कुष्ठ के प्रकरण में बताया जाएगा) विरेचन, रक्तमोक्षण और भूख लगने पर तिक्त, स्वादु कषाय रस वाले हल्के अन्न खाना चाहिये। अन्नों में पुराना चावल, मूंग, मिश्री आमला, परवल, मधु और सेवन करें। दिन में सूर्य की किरणों से तप्त और रात में चन्द्रमा के किरणों से शीतल एवं अगस्त्य तारा के उदय होने पर विपरहित हंसोदक नामक निर्मल एवं दोषों को दूर करने वाला जो अभिष्यन्दी नहीं है और रूक्ष भी नहीं है जो पीने में अमृत के समान लाभकर है ऐसे जल का सेवन करना चाहिये, इस काल में चन्दन, खस, कर्पूर का शरीर में लेप, मोती एवं फूलों की माला श्वेतवस्त्र का धारण करना चाहिए। रात्री के प्रथम पहर में चूना लगाने से सफेद और चन्द्रमा की किरणें जहाँ चमक रही हें ऐसे कोठे के ऊपर बैठना चाहिए।

तुषारक्षारसौहित्यदधितैलवसाऽऽतपान्।। तीक्ष्रगमद्यदिवास्वप्नपुरोवातान् परित्यजेत्।

अर्थ : शरद ऋतु में वर्जनीय आहार विहार–इस काल में तुषार (वर्षा के फुहारे या ओस) क्षार सौहित्य (अधिक भोजन) दधि, तैल, वसा, धूप, तिक्ष्ण, दिन में शयन और पूर्वी हवा का सेवन नहीं करना चाहिये।

विश्लेषण : गर्मी के दिनों में में फागुन चैत्र से ही सूर्य का ताप शरीर में लगता है और वह धीरे–धीरे जेठ मास तक लगता रहता है इसलिए धूप सहने की शक्ति अभ्यास के द्वारा हो जाती है इसलिए सूर्य स ंताप अधिक कष्ठदायी नहीं होता है। शरद् ऋतु में आकाश के स्वच्छ रहने पर जब सूर्य की किरणें प्रखर रहती है तो शीत वातावरण में रहने वाला मानव सहसा तिलमिला जाता है और वर्षा के अभाव में गरम वातावरण में संचित पित्त प्रकृपित हो जाता है। इसलिए पित्त को दूर करने के लिए धी का सेवन आवश्यक होता है। और प्रत्येक व्यक्ति को विरेचन लेकर पित्त का निर्हरण करा देना चाहिए। और हल्का सामान्य भोजन करना चाहिए किन्तु इस काल में अधिक भोजन दही तेल दिन में शयन पूर्वी हवा और धूप का त्याग करना चाहिए। वर्षा काल बीतने पर भी जल गंदा ही मिलता है इसलिए जिस जल में चन्द्रमा और सूर्य की किरणें अबाध रूप से पड़ती हों उस जल का सेवन करना चाहिए। अगस्त्य उदय का तात्पर्य अगस्त नामक तारा से हैं इस तारा के उदय होने पर पृथ्वी के कीचड़ आदि का शोषण हो जाता है। और इस प्रकार के जल का नाम हंसोदक कहा जाता हैं जो सभी प्रकार से लाभकर होता है। इस ऋतु में दिन में शयन और पूर्वी हवा का सेवन सर्वथा नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार यहां 6 ऋतुओं का वर्णन किया गया है, संक्षेप में ऋतुचर्या समझने के लिए इसका दो भाग किया गया **क**–आदान और **ख**–विसर्ग–इसे समझने के लिए निम्न आधार उत्तम होगा।

(क) आदान

(1) इस काल में शिशिर वसन्त ग्रीष्म तीन ऋतुयें होती हैं।
(2) माघ फागुन चैत वैसाख ज्येष्ठ आषाढ़ ये 6 मास होते है।
(3) इसमें सूर्य उत्तरायण अर्थात् उत्तर दिशा में रहता है।
(4) यह काल आग्नेय होता है अर्थात् सूर्य की किरणें प्रखर होती है।
(5) अग्नि गुण की प्रधानता होने से वायु अत्यन्त रूक्ष हो जाता है।
(6) चन्द्रमा का बल क्रमशः धीरे–धीरे कम होता है।
(7) सूर्य का बल पूर्ण रूप से धीरे–धीरे बढ़ता है।
(8) अति तीक्ष्ण सूर्य और अति रूक्ष वायु ये दोनों जगत के और शरीर के सौम्यांशका शोषण करते हैं।
(9) इस काल में तिक्त कटु कषाय रसों की वृद्धि होती है। और इन रसों के सौम्यांश का शोषण होने से ये रूक्ष होते हैं।
(10) इस काल के ज्येष्ठ अषाढ मास में शरीर का बल बहुत ही कम हो जाता है।।
(11) इस काल में हल्का भोजन शरीर स्वास्थ के लिए उत्तम रहता है।
(11) इस काल में अग्नि मन्द पड़ जाती है।

(ख) विसर्ग

(1) वर्षा शरद हेमन्त ये तीन ऋतुयें इस काल में होती है।
(2) सावन, भादो, अश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, ये 6 मास होते है।
(3) सूर्य दक्षिण दिशा की ओर गमन करता है।
(4) चन्द्रमा के प्रवल होने से ये सौम्य होता है।
(5) वायु सामान्य गुण युक्त रहता है।
(6) चन्द्रमा का बल क्रमशः बढ़ता रहता है।
(7) सूर्य का तापक्रम धीरे–धीरे घटता है।,
(8) इस काल में चन्द्रमा अपने किरणों से अमृत रस का प्रक्षेपण कर सौम्य रस को बढ़ाकर जगत की प्रणियों को बल देता है।
(9) इस क्रम में स्निग्ध, अम्ल, लवण और स्वादु रस की वृद्धि होती है।
(10) क्रमशः बल की वृद्धि उत्तम रूप से होती है।
(11) इस काल में स्निग्ध आहार अधिक मात्रा में खाने पर भी पच जाता है।
(12) स्वभावतः जठराग्नि प्रबल रहती है।

शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रमान्भजेत् स्वादुं निदाधे, शरदि स्वादुतिक्तकषायकान्। शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं धर्मघनान्तयोः।।

श्रन्नपानं समासेन विपरीतमतोऽन्यदा। नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ।।

अर्थ : संक्षिप्त ऋतुचर्या–शीतकाल अर्थात् हेमन्त शिशिर ऋतु में तथा प्राविट् और वर्षा काल में मधुर, अम्ल, और लवण रसों का सेवन वसन्त काल में तिक्त कटु और कसाय रस का सेवन, ग्रीष्मकाल में मधुर रस का सेवन, शरद् में मधुरतिक्त कषाय रसों का सेवन करना चाहिये। इसी प्रकार शरद् और वसन्त ऋतु में रूक्ष आहारों का सेवन तथा गर्म (ग्रीष्म ऋतु) घनान्त (शरद् ऋतु) में शीतल अन्नपान का सेवन करना चाहिये। इससे विपरीत स्निग्ध आहार का सेवन, हेमन्त, शिशिर ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में करना चाहिए। तथा इससे विपरीत हेमन्त शिशिर वर्षा और वसन्त ऋतु में उष्ण अन्नपान का सेवन करना चाहिए। यह संक्षेप में ऋतुओं की चर्या बतायी गयी है। सभी रसो का अभ्यास

अर्थात् प्रयोग सभी ऋतुओं में करनी चाहिए। किन्तु जिन–जिन ऋतुओं में जिन–जिन रसों का सेवन बताया गया है उनका अधिकरूप में सेवन उन–उन ऋतु में करना चाहिये।

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः। तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीया ऽपरः क्रमात्।।
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्।। इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिता–
यामष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने ऋतु– चर्या नाम तृतोयो ऽध्यायः।।

अर्थ : ऋतु संन्धि–एक ऋतु के अन्त के सात दिन ओर अगले ऋतु के आदिका सात दिन इन चौदह दिनों का नाम ऋतुसन्धि कही जाती है। इस ऋतुसन्धि में पहले ऋतु में सेवन क्रिए गए नियमों का धीरे–धीरे त्याग किया जाता है। तथा आगे के ऋतु में बताये गए नियमों का धीरे–धीरे पालन किया जाता है, यदि इन नियमों का पालन न करते हुए सहसा पूर्व के ऋतु के नियम का या और आगे के ऋतु में बताए गये नियमों का सहसा सेवन किया जाय तो प्रकृति के विपरीत रोग हो जाते हैं।

विश्लेषण : पादेनापथ्यमभ्यस्तं पादपादेन वा त्यजेत्।' इस नियम का पालन यहां भी किया जाता हैं। इस नियम से ऋतुसंधिके 14 दिनों में ऋतुके नियमों का त्याग और पालन निम्न चक्र के अनुसार किया जाता है।

ऋतु सन्धि 14 दिन का असात्म्य का तात्पर्य जो अपने आत्मा प्रकृति से न मिलता हो पर यदि लगातार उन वस्तुओं का सेवन किया जाता है तो वह विपरीत होते हुए भी अनुकुल हो जाता है। और यदि सहसा वस्तु का सेवन किया जाय तो वह आत्मा या प्रकृति के अनुकुल नहीं होता है। इसे ही असात्म्य कहते हैं। शनैः शनैः सेवन किया गया आहार यदि वह विषाक्त हो तो भ ी अभ्यास से वह सात्म्य हो जाता है। और यदि हितकर वस्तु हो और उसका सेवन सहसा किया जाय तो वह हानिकर होता है। इसलिये ऋतुओं में सेवनीय आहार विहार के लिये ऋतुसंन्धि का निर्देश किया गया है।

चतुर्थ अध्याय
रोगों की उत्पत्ति के कारण

अथातो रोगानुत्पादनीयाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अब ऋतुचर्या अध्याय के बाद जिन कारणों से रोगों के उत्पन्न होने की संभावना होती है, उनके बारे में चर्चा की जाएगी। साथ ही जिन कारणों से रोग नहीं होते हैं उनकी भी चर्चा इस अध्याय में है।

वेगान्न धारयेद्वातविण्मूत्रक्षवतृट्क्षुधाम्। निद्राकासश्रमश्वासजृम्भा ऽश्रुच्छर्दिरेतसाम्।।

अर्थ : अधारणीय वेग–(1) अपान वायु (2) मल (3) मूत्र (4) छीक (5) प्यास (6) भूख (7) निद्रा (8) कास (9) श्रमजन्य–श्वास (10) जम्भाई (11) अश्रु (12) वमन और आए हुए (13) शुक्र के वेगों को नहीं धारण करना चाहिए।

विश्लेषण : ये 13 अधारणीय वेग हैं। यदि इनका वेग आ रहा हो तो उसे रोकने का प्रयास नहीं करना चाहिए। प्रायः यह देखा जाता है कि कार्य की व्यस्तता के कारण या लज्जा के कारण इन वेगों को रोकने का प्रयास अनेकों व्यक्ति करते हैं। इन वेगों के रोकन ` से प्रायः सभी प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं जिसका निर्देश आगे किया जा रहा है।

अधोवातस्य रोधेन गुल्मोदावर्तरूक्क्लमाः। वातमूत्रशकृत्सगदृष्टयग्निवधहृद्गदाः।।

अर्थ : अपान वायु के रोकने से हानि– अपान वायु के रोकने से गुल्म उदावर्त शूल रोग तथा क्लम (मानसिक श्रम) तथा अपान वायु के रोकने से मूत्र और मल की रूकावट एवं नेत्ररोग, अग्निमांघ और हृदय रोग हो जाता है।

स्नेहस्वेदविधिस्तत्र वर्तयो भोजनानि च। पानानि वस्तयश्चैव शस्तं वातानुलोमनम्।।

अर्थ : अपान वायु के रोकने से उत्पन्न उपरोक्त रोगों में स्नेहपान या शरीर का स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए। गुदामार्ग में मल प्रवर्तक वर्त्तिका का लगाना और वायु को अनुलोम करने वाला भोजन–पान एवं बस्ति का प्रयोग करना उत्तम होता है।

शकृतः पिण्डिकोद्वेष्टप्रतिश्यायशिरोरूजः। ऊर्ध्ववायुः परीकर्तो हृदयस्योपरोधनम्।। मुखेन विट्प्रवृत्तिश्च पूर्वोक्ताश्चायमाः स्मृताः।

अर्थ : पुरीष वेग रोध से हानि–पुरीष के वेग रोकने से जंघा (जांघ) की पिण्डिलियों में ऐंठन के समान पीड़ा प्रतिश्याय शिरःशूल, उर्ध्ववात, परिकर्त्त (कैची सी काटने की तरह गुदा में वेदना) हृदयगति की रूकावट और मुख से पुरीष का निकलना तथा अपान वायु के रोकने से जो भी रोग होते हैं वे सभी रोग हो जाते हैं।

अङ्गभङ्गाश्मरीवस्तिमेढ्वगंक्षणवेदनाः। मूत्रस्य रोधात्पूर्वे च प्रायो रोगाः।

अर्थ : मूत्र वेग रोकने से हानि–मूत्र के वेग रोकने से अगंभगं अर्थात् अगों में टूटने की तरह पीड़ा अश्मरी वस्ति मूत्रेन्द्रिय एवं वंक्षण प्रदेश में वेदना तथा अपान वायु और पुरीष के वेगों को रोकने से जो ऊपर रोग बताये गये है वे सभी रोग होते हैं। अर्थात् गुल्म, उदार्क्त वेदना, ग्लानि, अपान वायु, मू त्र, पुरीष की रूकावट, दृष्टि रोग अग्निमांद्य, हृदय रोग, पिण्डिकोद्वेष्टन, प्रतिश्याय, शिरःशूल ऊद्ध्र्ववात, परिकर्त्त, हृदय गति की रूकावट और मुख से पुरीष की प्रवृति होती है।

तदौषधम् वतर्यभ्यगावगहाश्च स्वेदनं वस्तिकर्म च। अन्नपानं च विड्भेदि विड्रोधोत्थेषु यक्षमसु।

अर्थ : पुरीष वेग रोध की चिकित्सा–अपान वायु पुरीष और मूत्र के वेग रोकने से उत्पन्न हुये रोगों में गुदा में फलवर्ति का प्रयोग–नाभि के नीचे वातनाशक तैल का मर्दन, वातनाशक औषधियों के क्वाथ में बैठाना, स्वेदन–निरूह वस्ति का प्रयोग एवं मल को भेदन करने वाले अन्न और पान का प्रयोग करना चाहिये। और पुरीष के वेग धारण करने से उत्पन्न राजयक्ष्मा रोग में जो चिकित्सा बतायी जायेगी वह चिकित्सा भी करनी चाहिए।

विश्लेषण : चरक ने पक्वारूय में वेदना, अपान वायु और मल की प्रवृत्ति का अभाव एवं आध्मान का होना अधिक बताया है। यहाँ मुख से पुरीख का निकलना भी बताया है। तात्पर्य यह है कि अधामार्ग से मलमूत्रादि का निःसरण अपान वायु के द्वारा ही होता है जब आये हुए पुरीष के वेग को रोक लिया जाय तो अपान वायु कुपित हो जाता है। तथा उस अपान वायु की गति ऊपर हो जाती है साथ ही मल भी बड़ी आंत में चला जाता है। तथा बड़ी आंत की कला में द्रवांश का शोषण हो जाता है। फलस्वरूप मल शुष्क होकर गांठ दार हो जाता है और वह सुख पूर्वक बाहर नहीं निकलपाता है जिससे अपान वायु का और अधिक प्रकोप हो जाता है जिस से उदर में आटोप और वेदना होती है, जब अपान वायु और ऊपर चलता है तो उसके साथ गया हुआ मल मुख से पुरीष का गन्ध या पुरीख ही निकलता है। सुश्रुत ने आटोप और शूल का होना भी बतायाहै तथा उर्ध्व वात अर्थात् उद्गार अधिक रूप में आना बताया है।

मूत्रजेषु तु पाने च प्राग्भक्तं शस्यते घृतम्।। जीर्णान्तिकं चोत्तमया मात्रया योजनाद्वयम्। अवपीडकमेतच्च्व संज्ञितम्–

अर्थ : मूत्ररोध की चिकितसा–मूत्र वेग के रोकने से उत्पन्न रोगों में भोजन के पहले घृत पीना उत्तम माना गया है। और वह घृत जीर्णान्तिक उत्तम मात्रा में होना चाहिये। इस प्रकार भोजन के पहले घृत पीना और जीर्णान्तिक घृत पीना इन दो प्रयोग विधियों का नाम अवपीडक है।

विश्लेषण : प्राग्भक्त इसका तात्पर्य भोजन के पहले घृतपीना है और जीर्णान्तिक का तात्पर्य पूर्णरूप से अन्न के पच जाने पर घी का पीना है। इस प्रकार घृत का पान उत्तम मात्रा में पीना चाहिये। उत्तम मात्रा का तात्पर्य जो घी की मात्रा दिन रात में अर्थात् 24 घंटे में पच जाय उसे उत्तम मात्रा कहते हैं यह मात्रा तोल के अनुसार नहीं बतायी गयी। 'इसका कारण यह है कि मानव अपने–अपने सुविधा के अनुसार घृत का सेवन करते हैं जिस मात्रा में घृत का सेवन किया जाता है वह प्रकृति के अनुकूल बन जाता है। उसका पाचन अन्न की तरह 4 या 5 घंटे में हो जाता है। उस व्यक्ति को इतना घृत पिलाना चाहिये तिसका पाचन 24 घंटे में हो जाय। यहां इन दो प्रयोगों का नाम अवपीडक बताया है। और इस ग्रंथ में जहाँ–जहाँ अवपीडक यह शब्द आता है वहाँ वहाँ स्नेह पीने की इस विधि का नाम अवपीडक कहा जाता है। इस प्रकार मूत्र वेगरोध जन्य रोगों में घृत का ही पान कराया जाता है। यद्यपि मूत्र वेग रोध से अपान आयु ही कुपित होता है और वात दोष को दूर करने के लिये तेल उत्तम औषध माना गया है, फिर भी उसका प्रयोग नहीं किया जाता है क्योंकि वात दोष को दूर करते हुए तेल–विवध्न्ध और अल्प मूत्र को उत्पन्न करने वाला होता है, इसलिये यहाँ तेल का पीना नहीं बताया, अन्य कारणों से वात के कुपित होने पर तेल का प्रयोग ही उत्तम है, केवल मूत्र वेग रोध जन्य प्रकृपित वात में घृत का सेवन कराया जाता है।

धाररगात्पुनः।। उद्गारस्यारूचिः कम्पोविबन्धो हृदयोरसोः। आध्मानकासहिध्माश्च हिध्मावत्तत्र भेषजम्।।

अर्थ : उद्गार वेग रोध से हानि–आते हुये उद्गार के वेग को रोक देने से भोजन में अरूचि, शरीर में कम्प, हृदय और वक्ष प्रदेश में विबन्ध अर्थात् जकड़ाहट आध्मानकास और हिचकी रोग हो जाता है। इस विकृति में हिक्का रोग की तरह चिकित्सा की जाती है। अर्थात् धूम्रपान, नस्य का प्रयोग किया जाता है।

शिरोऽर्तोन्द्रियदौर्बल्यमन्यास्तम्भादिंतं क्षुतेः। तीक्ष्णधूमाञ्जनाघ्रारगनावनार्कविलोकनैः। प्रवर्तयेत्क्षति सक्तां स्नेहस्वेदौ च शीलयेत्।।

अर्थ : छींक वेग रोध का लक्षण एवं चिकित्सा–आये हुए छींक के वेग को रोकने से शिरःशूल, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों में दुर्बलता–मन्यास्तंभ और अर्दित रोग होते हैं। चिकित्सा–छींक के रोकने से उत्पन्न रोगों में तीक्ष्ण धूम्रपान अन्जन, घ्राण नावन (नस्य) और सूर्य के किरणों की और नासिका को दिखाकर रूके हुए छींक के वेग को निकालना चाहिये। तथा शिरःप्रदेश पर स्नेहन एवं स्वेदन करना चाहिये।

शोषाङ्गसादबाधिर्यसम्मोहभ्रमहृद्गदाः। तृष्णाया निग्रहातत्र शीतः सर्वो विधिर्हितः।

अर्थ : तृष्णा वेगरोध का लक्षण एवं चिकित्सा–प्यास के वेग को सोकने से मुखशोष अंगों में वेदना (उत्साह का न होना) वधिरपन, सम्मोह (ज्ञानशून्यता) भ्रम (शरीर का घूमना) हृद्रोग होता है। चिकित्सा–इसमें सभी स्नान, पान, भोजन आदि में शीतल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये।

प्रगभगारूचिग्लानिकार्श्यशूलभ्रमाः क्षुधः। तत्र योज्यं लघु स्निग्धमुष्रगमल्पं च भोजनम्।।

अर्थ : भूख के वेगरोधजन्य रोग का लक्षण और उसकी चिकित्सा–भूख के वेग रोकने से अंगों में भगं (टूटने की तरह पीड़ा) भोजन में अरूचि, ग्लानि, शरीर में कृशता और पक्वाशय में वेदना तथा चक्कर का आना होता है। चिकितसा–भूख के वेग रोकने से उत्पन्न रोगों में लघु, स्निग्ध, उष्ण भोजन अल्प मात्रा में करना चाहिये।

निद्राया मोहमूर्धाक्षिगौरवालस्यजृम्भिकाः। अङ्गमर्दश्च, तत्रेष्टःस्वप्नः संवाहनानि च।

अर्थ : निद्रा वेग रोध जन्य रोग और उसकी चिकित्सा–निद्रा का वेग रोकने से मोह (मन में बेचैनी) मस्तक और नेत्र में भारीपन, आलस्य, जम्भाई और अंगों में नर्दनवत् पीढ़ा होती है, इसमें स्वप्न और संवाहन अर्थात् शरीर में तैलों का मर्दन करना चाहिए। चरक ने तन्द्रा का होना अधिक बताया है।

कासस्य रोधात्तद्वृद्धिः श्वासारूचिहृदामयाः। शोषो हिध्मा च,खकार्यो ऽत्र कासहा सुतरां विधिः।।

अर्थ : कास वेग रोध जन्य रोग और उसकी चिकित्सा–आये हुए कास के वेग धारण करने से कास की वृद्धि श्वास, भोजन में अरूचि, हृदय रोग, मुख शोष और हिक्का रोग हो जाते है इसमें कास नाशक सभी चिकित्सा करनी चाहिए।

गुल्महृद्रोगसम्मोहाहः श्रमश्वासाद्विधारितात्। हितं विश्रमरण तत्र वातघ्नश्च क्रियाक्रमः।

अर्थ : श्रम जन्य श्वास के वेग रोध जन्य रोग और उसकी चिकित्सा–व्यायाम आदि परिश्रम से उत्पन्न श्वास को रोक देने से गुल्म, हृदय रोग और सम्मोह अर्थात् मन में अधिक बेचैनी होती है इसमें विश्राम करना और वात नाशक विधियाँ करनी चाहिए।

जृम्भायाः क्षववद्रोगाः सर्वश्चानिलजिद्विधिः।

अर्थ : जुम्भा वेग धारण जन्म रोग और उसकी चिकितसा–जंभाई के वेग को रोकने से, छींक रोकने से जो भी रोग होते हैं अर्थात् शिरःशूल इन्द्रिय दौर्बल्य मन्यास्तम्भ और अर्दित (मुंहका लकवा) वे सभी रोग होते है इसमे वातनाशक सभी चिकित्सा करनी चाहिए।

पीनसाक्षिशिरोहृद्रुङ्मन्यास्तम्भारूचिभ्रमाः। सगुल्मा बाष्पतस्तत्र स्वप्नो मद्यंप्रियाःकथा।।

अर्थ : आंसू के वेग रोध अन्य रोग और उसकी चिकित्सा–आये हुए आंसू के वेग रोकने से पीनस, नेत्र रोग, शिरःशूल, हृदय रोग, मन्यास्तंम्भ, भोजन में अरूचि, भ्रम (चक्कर आना) और गुल्म रोग हो ते हैं। इसमें रोगी को शयन, और प्रिय लगने वाली कथाओं का श्रवण करना हितकर होता है।

विश्लेषण : नेत्रों से सदा थोड़ी–थोड़ी मात्रा में आँसू का स्त्राव होता रहता है किन्तु शोक अथवा विशेष आनन्द की अवस्था में यह स्राव अधिक मात्रा में हो ने लगता है। उसे रोकना रेयस्कर नहीं होता, आसू का सम्बन्ध यद्यपि अश्रृ ग्रन्थि से ही होता है पर इसका संबन्ध उदर से लेकर शिरोभग तक होता है। इसलिये उन सभी भागों में आंसू रोकने से बुरा प्रभाव पड़ता है। विशेषकर नासिका से पानी का गिरना और सभी प्रकार के नेत्ररोग, शिरःशूल मुख्य रूप से होता है, किन्तु कभी–कभी शोक या आनन्द से निकले हुए आंसू को रोकने से हृदय पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिससे हृदय दुर्बल हो जाता है, फलःस्वरूप बेचैनी बढ़ जाती है। और आंसू के वेग रोकने से उर्ध्वांग प्रदेश में कुपित वायु मन्यास्तम्भ एवं उदर प्रदेश में कुपित वायु गुल्म रोग को उत्पन्न करता है। यह एक प्रसिद्ध रोग है जो लोग अपनी दृढता और धीरता को प्रकट करने के लए आंसू के वेग को रोक लेते हैं उन्हे यह रोग होता है, इसमें प्रिय कथा श्रवण लाभकर होता हैं। चरक और सुश्रुत ने गुल्म रोग और मन्यास्तंभ का होना नहीं बताया है।

विसर्पकोठकुष्ठाक्षिकण्डूपाण्ड्वामयज्वराः। सकासश्वासहृल्लासव्यङ्गश्वयथवो वमेः।। गण्डूषधूमानाहारा रूक्षं भुक्त्वा तदुद्वमः। व्यायामः स्त्रुतिरस्त्र शस्त चात्रा विरेचनम्।। सक्षारलवणं तैलमभ्यङ्गार्थ च शस्यते।

अर्थ : वमन वेग रोध से उत्पन्न रोग और उसकी चिकित्सा–आये हुए वमन का वेग रोकने से विसर्प, कोठे–ज्वर, कास, श्वास, हल्लास (मिचिली) व्यगं (श्याम वर्ण का शरीर में चकते का होना) और पूरे शरीर में शोध (सूजन) हो जाता है। चिकित्सा–कफनाशक गण्डूष, धूम और उपवास करना चाहिये। तथा रूक्ष अन्न खिलाकर वमन द्रव्यों के प्रयोग से बमन कराना चाहिये, व्यायाम, रक्तमोक्षण, तथा विरेचन एवं क्षार और नमक मिलाकर तेल का मालिश करना लाभकर होता है।

विश्लेषण : कभी वमन का औषध सेवन करने पर अथवा कभी स्वयं विसूचिका आदि रोगों में वमन होता है। वमन से शरीर के दूषित पदार्थ बाहर निकलते हैं तो उसे किसी भी प्रकार रोकना नहीं चाहिए। यदि उसे रोक दिया जाय तो उभरे हुए दोष रक्त में मिल जाते हैं। इस लिए रक्त विकारजन्य सभी रोग हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में गण्डूषादि का प्रयोग तो करना ही चाहिये। 'किन्तु विशेष रूप से पुनः रूके हुए वमन को प्रवृत्त कराना चाहिये तथा कुष्ठ रोग में जो घृत और आसव अरिष्ट का प्रयोग बताया गया है। उन सबका प्रयोग उसी रूप में करना चाहिए।

शुक्रातत्स्त्रवणं गृह्यवेदनाश्वयथुज्वराः।

हृदयथामूत्रसगागभगवृद्धयश्मषण्ढताः। ताम्रचूडसुराशालिवस्त्यभ्यगावगाहनम्। बस्तिशुद्धिकरैः सिद्धं भजेत्क्षीरं प्रियाः स्त्रियः।

अर्थ : शुक्र वेग रोकने से रोग और उसकी चिकितसा–आए हुए शुक्र के वेग रोकने से शुक्र की अधिक प्रवृत्ति मूत्रेन्द्रिय में वेदना तथा शोथ, ज्वर, हृदय में पीड़ा, मूत्र की रूकावट, अगों में पीडा, वृद्धि (मूत्र वृद्धि) अश्मरी और नपुसकता हो जाती है। ऐसी दशा में चावल (धान का चावल) उत्तार वस्ति, वस्ति प्रदेश पर अभ्यगं और वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ से पूर्ण पात्र (टव) में बैठना और वस्ति को शुद्ध करने वाले कुष्माण्ड, गोखुरू, यवक्षार, आदि वस्ति शुद्धिकर द्रव्यों से सिद्ध दूध का सेवन एवं प्रिय स्त्रियों का सेवन अर्थात् मैथुन करना चाहिए।

तृट्शूलार्तं त्यजेत्क्षीणं विड्वमं वेगरोधिनम्।

अर्थ : वेग रोध जन्य रोगों में असाध्यावस्था–वेग रोध जन्य रोगों में प्यास की अधिकता, उदर शूल, क्षीण (धातु और शरीर) और पुरीष के वमन से पीडित रोगी को त्याग देना चाहिए, अर्थात् इन लक्षणों से युक्त रोगी असाध्य होता है।

रोगाः सर्वे९पि जायन्ते वेगोदीरर्गधारणैः।

अर्थ : सामान्यतः सभी रोगों का कारण– मल मूत्रादि के वेगों को जबरदस्ती निकालना और आये हुए वेगों को रोकना यह दोनों कार्य सामान्यतः सभी रोगों के कारण होते हैं।

विश्लेषण : मल मूत्रादि वेगों को रोकने से जिन–जिन रोगों की उत्पत्ति ऊपर बताये हैं वे ही रोग वेगों के रोकने से नही होते हैं किन्तु सभी प्रकार के वेग जबरदस्ती निकालने तथा रोकने से हो जाते हैं। क्योंकि इन दोनों क्रिया से वायु का प्रकोप होता है। कुपित हुआ वायु सभी प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है, वायु ही गतिशील है जब उसका प्रकोप हो जायेगा तो सप्त धातु तीन मल और तीन दोषों को दूषित करना है अतः प्रयत्नपूर्वक वेगों को रोकना या उसे निकालना दोनों क्रिया ही नही करना चाहिए।

निर्दिष्टं साधनं तत्र थूयिष्ठं ये तु तान् प्रति। ततश्चानेकधा प्रायः पवनो यत्प्रकुप्यति। अन्नपानौषधं तस्य युञ्जीतातो९नुलोमनम्।

अर्थ : वेग रोकने से उत्पन्न होने वाले सामान्यतः रोगों की चिकित्सा–वेगों को रोकने से जो रोग विशेष रूप से होते हैं उन रोगों का तथा उनकी चिकित्सा साथ में बतायी गयी है। वेगों के रोकने से वायु अनेक प्रकार से कुपित होता है अतः वायु को अनहुलोम करने वाले अन्न पान और औषधि का प्रयोग करना चाहिए।

विश्लेषण : वेगों को जबरदस्ती निकालने और वेगों को रोकने से वायु कुपित होता है अतः वायु का अनुलोमन जिस प्रकार हो वैसी क्रिया करनी चाहिए। किन्तु बलात् वेगों को रोकने से जो रोग होते हैं वही वेगों का धारण करने से नहीं उत्पन्न होते हैं किन्तु भिन्न–भिन्न रोग होते है। पर दोनों अवस्था में वायु ही कुपित होता है, अनुलोम का तात्पय्र वायु की अपने प्राकृतिक मार्ग में ले जाना है।

धारयेतु सदा देगान् हितैषी प्रेत्य चेह च। लोभेष्यद्वि षेमात्सर्यरागादीनां जितेन्द्रियः।।
यतेत च यथाकालं मलानां शोधनं प्रति। अत्यर्थसञ्चितास्ते हि क्रुद्धाःस्युर्जीवितच्छिदः।।

अर्थ : धारणी वेग–ऊपर अधारणीय वेगों का निरूपण किया गया है अब यहां धारणीय वेगों का वर्णन किया जा रहा है, सर्वदा इस लोक में औ र मरने के बाद भलाई चाहने वाला जितेन्द्रिय व्यक्ति लोभ, ईर्ष्या (दूसरे के उत्कर्ष को न सहना) द्वेष (दूसरे व्यक्ति का अपकार करने की इच्छ़ा) मात्सर्य (दूसरे के गुणों को देखकर उसका सहन न करना) और रोग आदि कारणों से उत्पन्न वेग को धारण करना चाहिये। इस प्रकार 5 वेगों को नाम लिखकर आदि शब्द से हानिकर आये हुए शारीरिक एवं मानसिक वेगों का ग्रहण किया जाता है। हितैषी मनुष्य के कर्तव्य का उल्लेख–शरीर में मलों अर्थात् वात, पित्त, कफ, पुरीषादि मलों का

समय पर शोधन करने का प्रयास करना चाहिए। क्योंकि शरीर में अधिक रूप में संचित दोष कुपित होकर जीवन को नष्ट करने वाले हो जाते हैं।

विश्लेषण : यथा काल मलों का शोधन करना चाहिये, किस दोष को निकालने के लिए कौन सा काल है, इसके लिये इसी अध्याय के 35 श्लोक में–'शोतोद्भवं दोषचयं वसण्ते' से बताया जायेगा। यह प्रक्रिया स्वस्थ व्यक्ति के लिए है, किन्तु कुछ विद्वानों विशेषकर सुश्रुत ने–

भिषजः शोधनं प्राहुः वर्ज्य स्वस्थेन सर्वदा। पन्नगस्येव धोरस्य वेगं च समुदोरणम्।।

अर्थ : इस प्रकार स्वस्थ व्यक्तियों के लिए शोधन का निषेध किया गया है, इस विरोध को देखकर स्वस्थ की कल्पना दो प्रकार से की जाती है। एक सचित दोष और दूसरा असंचित दोष। संचित दोष स्वस्थ व्यक्तियों के लिए यहाँ शोधन का विधान है। न कि असंचित दोष–स्वस्थ के लिये जहाँ स्वस्थ व्यक्तियों के लिए शोधन का निषेध है असंचित दोष ही लिए जाते हैं। कुछ लोग संचित दोष व्यक्तियों में दोष के बढ़ जाने से दोष वैषम्य को रोग नहीं माना है। इसलिए रोगी व्यक्तियों में ही शोधन का विधान बताते हैं, पर यह युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि संचय प्रकोप प्रसर स्थानसंश्रय पूर्वक रोग होता है, संच य अवस्था में किसी रोग की उत्पत्ति नहीं होती है, क्यांकि संचय दोषों का अपने–अपने स्थानों में होता है, केवल दोषों की वृद्धि के कारणों में द्वेष और दोंषों के विपरीत वस्तुओं की लेने की इच्छा होती है, पर अन्य कोई कष्ट उसको नहीं होता है इसलिये इसे स्वस्थ ही माना जाता है, अतः संचित दोषों का स्वस्थ व्यक्तियों के लिए यथा समय मलों का शोधन करना चाहिये। यदि वह अपने अपने स्थानों में संचय होता है तो प्रकोप प्रसर आदि क्रिया काल को प्राप्त कर रोग उत्पन्न करता है। इसलिये 'संचेय ऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरोगतिः' बताया गया है।

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लंधनपाचनैः।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरूद्भवः।।

अर्थ : दोषों को दूर करने का उपाय–दोष लंघन और पाचन के द्वारा जीते जाने पर भी कदाचित् कुपित हो जाते हैं किन्तु जिन दोषों की शुद्धि संशोधन के द्वारा होती है उन दोषों की तथा दोष जन्य रोगों की उत्पत्ति पुनः नहीं होती है।

विश्लेषण : आयुर्वेद चिकित्सा में शोधन और शमन ये दो मुख्य बताये गये हैं लंघन (उपवास) पाचन से दोष शान्त हो जाते है। किन्तु थोड़ा भी अपव्य का सेवन किया जाय तो वह पुनः कुपित हो जाते हैं यदि संशोधन वमन विरेचन के द्वारा उसे बाहर निकाल दिया जाय तो मुलभूत दोष के दूर हो जाने पर पुनः दोष का प्रकोप या तत् जन्य रोग नहीं हो पाते हैं।

यथाक्रमं यथायोगमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत्। रसायनानि सिद्धानि वृष्ययोगांश्च कालवित्।।

अर्थ : शोधन के बाद सेवनीय औषध–देश, काल, वल, शरीर, आहार, सात्म्य सत्व, प्रकृति, आदि का समुचित ज्ञान रखने वाला वैद्य संशोधन के बाद यथाक्रम और यथा योग्य सिद्ध रसायन और वृष्य योगों का प्रयोग करें।

विश्लेषण : तापर्य यह है कि शरीर के शुद्ध होने पर औषधियाँ अपने गुणों को भलीभाँति शरीर में प्रविष्ट करती हैं। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्र में कोर्ठ भी रंग लगाया जाय तो ठीक रूप में रंग जाता है वही रंग यदि गन्दे कपड़ों में लगाया जाय तो ठीक रूप में नहीं लगता है, उसी प्रकार अशुद्ध शरीर में रसायन और बाजीकरण का प्रयोग लाभकर नहीं होता है। इसलिये वमन विरेचन द्वारा शरीर की शुद्धि हो जाने पर रसायन वाजीकरण का प्रयोग बताया गया है, यह विधि भी स्वस्थ व्यक्तियों के लिऐ ही है। जैसा कि चरक चि. प्रथम अध्याय में बताया है कि *''स्वस्थस्योर्जस्करं यतु तद् वृष्यं तद् रसायनम्''*

भेषजक्षपिते पथ्यमाहारैबृहिणं क्रमात्। शालिषष्टिकगोधूममुद्गमांसघृतादिभिः।। हृद्यदीपन भैषज्यसंयोगाद्
रूचिपक्तिदैः। साभ्यङ्ग्रोद्वर्तनस्नाननिरूहस्नैहवस्तिभिः।।

अर्थ : शोधन से कृशित व्यक्तियों के लिए आहार–भेषज (औषधि) सेवन से शरीर के क्षीण होने पर क्रम से आहारों द्वारा वृहिणं पथ्य का प्रयोग करना चाहिये। आहारों में शालि चावल साठी का चावल, गेहूं, मूंग, घृत आदि आहार

और हृदय के लिए हितकर अग्नि संदीपक (मोंठ अदरल, पीपल, मरिच अनार सैन्धव नमक आदि) औषधि द्रव्यों के संयोग से बनाया हुआ आहार जो रूचि उत्पन्न करने में एवं पाचन संपादान में समर्थ हो ऐसे आहार का क्रमशः प्रयोग करना चाहिए। और तैलों का अभ्यगं, उबटन, स्नथान, निरूह, एवं स्नेह वस्ति का प्रयोग विहार के रूप में करना चाहिए। अर्थात् इस बताये हुए आहार–विहार के सेवन से क्रमशः वृंहण करना पथ्य होता है।

तथा स लभते शर्म सर्वपावकपाटवम्।
धीवर्णेन्द्रियवैमल्यं वृषतां दैर्ध्यमायुषः।।

अर्थ : सशोधन और वृंहण प्रयोग से लाभ–इस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति यथासमय शोधन, के बाद रसायन तथा दृष्य द्रव्यों का सेवन करता है तो उसे सुन्दर स्वास्थ की प्राप्ति होती है और सभी प्रकार के अग्नि यथा पंच महाभूत की 5 धातुओं के साथ अग्नि और जठराग्नि की शक्ति बढ़ती है। बुद्धि वर्ण तथा इन्द्रियों में अपने–अपने कार्य करने की शक्ति प्राप्त होती है, शुक्र की बृद्धि एवं आयु अधिक हो जाती है।

ये भूतविषवारूवग्निक्षतभगादिसम्भवाः। रागद्वेषभयाद्याश्च ते स्युरागन्तवो गदाः।।

अर्थ : आगन्तुक रोग–भूत–प्रेत, वायु, अग्नि, क्षत ओर अंग भगं से तथा राग द्वेष भय से जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें आगन्तुक रोग कहा जाता है।

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः। देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवतैंनम्।। अथर्वविहिता शान्तिः प्रतिकूलग्रहार्चनम्। भूताद्यस्पर्शनोपायो निर्दिष्टश्च पृथक् पृथक्।। अनत्पत्यै समासेन विधिरेष प्रदर्शितः। निजागन्तुविकारार्गामुत्पन्नानां च शान्तये।।

अर्थ : रोगों का चिकित्सासूत्र–प्रज्ञापराधों का त्याग, इन्द्रियों में शान्ति स्मरण शक्ति का उद्बोधन, देश, काल और आत्मा का विज्ञान अर्थात् मैं किस वातादि प्रकृति का हूं उसका पूर्ण ज्ञान और सद्वृत का पालन करना। अथर्ववेद में बतायी गयी शान्तियों का सेवन प्रतिकूल सूर्यादि ग्रहों की पूजा भूत प्रेतादि का शरीर में आवेश न हो इसके लिए अलग–अलग उपाय भूतबाधा प्रतिषेध नामक उतरतंत्र क ` अध्याय में बताया गया है। उसका सेवन करने से निज और आगन्तुक रोगों के न होने का संक्षेपोपाय बताया गया है। और उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा भी इन्हीं के द्वारा बतायी गयी है।

विश्लेषण : यहाँ यह संक्षेप में निज या आगन्तुक रोगों के न होने तथा उत्पन्न रोगों के शान्ति का उपाय बताया गया है। प्राज्ञापराध अर्थात् असत् आचरण इसका त्याग जैसे–इन्द्रियों में शान्ति से इन्द्रियों का विषयों के साथ अतियोग मिथ्यायोग और हीनयोग का न होना, स्मृति से पूर्व में किये गए आहार विहार का समुचित रूप में स्मर ण होना, देश से जांगल आनूप साधारण, काल से शीत वर्षा और उषण काल आदि, विज्ञान से में किस प्रकृति का हूं और मेरे लिए कौन कौन सा आहार–विहारअनुकूल पड़ता है इसका ज्ञान होना रोगों के उत्पन्न न होने का मुख्य कारण है। इस प्रकार दिनरात का विचार कर कार्य क रने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार रोगों से पीड़ित नहीं होता है। विशेषकर भूत प्रेतादि के आवेश से तथा सूर्यादि ग्रहों के प्रतिकूल होने से रोग होते हैं इसमें अथर्ववेद में बतायी गयी शान्ति करनी चाहिये। यदि ग्रह की दुष्ट दशा हो तो ग्रहों की पूजा करनी चाहिये। और इस ग्रंथ में भी भिन्न–भिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न देवादि ग्रह पकड़ न सके इसका उपाय सद्वृत में एवं अनागतवाधा प्रतिषेध अध्याय में बताया गया है।

विशोधयन् ग्रीष्मजमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्
प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु।।

अर्थ : मलों को शोधन का काल–शीतकाल अर्थात् हेमन्त और शिशिर ऋतु में संचित कफ दोष का चय अर्थात् समूह को वसन्त ऋतु में, ग्रीष्म में, संचित बात को वर्षा काल में, वर्षाकाल में संचित पित्त को शरद ऋतु में निकालते हुए व्यक्ति को ऋतुओं में स्वभाव से होने वाले रोग नहीं होते हैं।

विश्लेषण : ऋतुओं में दो प्रकार के रोग होते हैं। 1– स्वाभाविक ऋतु में दोष संचय जन्य और दूसरे ऋतु के बिगड़ने पर। यहाँ स्वभाव से संचित हुए दोषों को निकालने के लिए निर्देश किया गया है, क्योंकि ऋतु के विपरीत होने पर किस दोष से कौन सा रोग होगा यह निश्चित नहीं रहता। क्योंकि ऋतु विपरीत में सहसा दोषों का प्रकोप विना संचय हुये ही हो जाता है, और स्वाभाविक ऋतु वर्षा में वात शरद में पित्त और बसन्त में कफ का प्रकोप होता ही है। इस लिये प्रकोप होने के पूर्व शोधन कर दिया जाता है। सुश्रुत ने–

'श्रावणे कार्तिके चैत्र' मासि, साधारणे क्रमात्। ग्रीष्म वर्षा हिमचितान्वारूवादीनाशु निर्हरेत।।

अर्थ : वर्षा के प्रथम श्रावण, शरद के प्रथम कार्त्तिक और बसन्त के प्रथम चैत मास में शोधन का विधान बताया है।

नित्यं हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः। दाता समः सत्यपरः क्षमावा– नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः।।
इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचिताया– मष्टाङ्गहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने रोगानुत्पाद– नोयो नाम चतुर्थो•ध्यायः।।

अर्थ : स्वस्थ रहने का उपाय–निरन्तर हित आहार–विहार का सेवन करने वाला, अच्छ़ी प्रकार विचार कर कार्य करने वाला, कामादि विष ायों में आसक्त न रहने वाला, निरन्तर दान देने वाला, समान रूप से सभी वस्तु को देखने और समझने वाला, सत्य प्रधान वचन वाला, सहनशील तथाा आप्त (विश्वास पात्र) जनों की सेवा करने वाला, अर्थात् विश्वास करने वाले व्यक्तियों के साथ निरन्तर रहने वाला मनुष्य रोग रहित रह ता है।

पंचम् अध्याय
आहार द्रव्यों का ज्ञान

अथातो द्रवद्रव्यविज्ञानीयमध्याय व्याक्ष्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अर्थ : अब इसके बाद द्रवद्रव्य विज्ञानीय नामक अध्याय की व्याख्या की जायेगी। इस प्रकार आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था।

विश्लेषण : पूर्व के अध्याय में रोग की उत्पति न होने के कारणों का उल्लेख किया गया है। उसमें प्रथम हित आहार का उपदेश है, यद्यपि दिनचर्या और ऋतुचर्या प्रकरण में आहार–विहार का नियम बताया गया है तथापि आहार द्रव्यों का ज्ञान जब तक पृथक्–पृथक् रूप में नही होगा कि यह द्रव्य गुरू है या लघु, शीत है या उष्ण तबतक उसका प्रयोग लाभकर सिद्ध नहीं होगा। इसलिये द्रव द्रव्यों का गुणधर्म इस अध्याय में बताया गया है। द्रव द्रव्यों में दूध, दही, घृत जल आदि बहुत द्रव आते हैं। फिर भी विशेष रूप से जल को ही प्राथमिकता दिया गया है। क्योंकि अन्य दूध, दही, घृत एवं इक्षुरस तैल आदि का सेवन यदि न भी किया जाय तो जीवन चल सकता है। किन्तु यदि जल का सेवन नहीं किया तो जीवन कुछ ही क्षण में समाप्त हो जाता है। कहा भी है–

'पानीयं प्राणिनां प्राणाः' विश्वमेतच्च तन्नमयम्। अतो•त्यन्त निषेधे•पि न क्वचिद् वारि वर्यात।।''

अर्थ : जल सभी रसों का उत्पादक है। इसलिए सर्व प्रथम जल के गुणों का वर्णन किया गया है।

अथ तोयवर्गः

जोवनं तर्पणं हृद्यं ह्लादि बृद्धिप्रबोधनम्। तन्वव्यक्तरसं मृष्टं शीतं लघ्वमृतोपमम्।। गणांम्बु नभसों भ्रष्टं स्पृष्टं त्वर्केन्दुमारूतैः। हिताहितत्वे तद्भूयो देशकालावपेक्षते।।

अर्थ : जल का गुण–सामान्यतः जल जीवन शक्ति को बढ़ाने वाला तर्पण (मानसिक श्रम को दूर करने वाला) हृदय के लिये हितकारी, मन में आनन्द देने वाला, बुद्धिन्द्रियों में ज्ञान देने वाला, तनु (स्वच्छ) अव्यक्त रस अर्थात किसी भी मधुरादि रसों की स्थिति शुद्ध जल में नहीं रहती है। मृष्ट (स्वाद में सुखकर), शीत, लघु और अमृत के समान लाभकर होता है। यह सब शुद्ध, दिव्य आकाश से गिरने वाले जल का है। गंगा का जल सूर्य चन्द्रमा वायु से युक्त होकर जब वह आका श से नीचे आता है तो वह जल देश और काल के अनुसार लाभकर या हानिकर होता है।

विश्लेषण : शुद्ध जल में शीत, शुचि, शिव, मृष्ट, विमल ये 6 गुण स्वभाव से रहते हैं। वही जल देश काल के अनुसार हित अथवा अहित बन जाता है। अर्थात् भिन्न देश और काल केग गुणों को जल अपने में ला देता है।

येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजते स्थितम्। अक्लिन्नमविवर्ण च तत्पेय गांगम।।

अर्थ : गांग जल–आकाश से गिरा हुआ स्वच्छ जल जिसे चांदी के पात्र में लिया जाय और उसमें भात रख दिया जाय, यदि भात क्लिन्न न हो और उसके वर्ण में कोई परिवर्तन न हो तो उसे गांग जल कहा जाता है। वह जल पीने योग्य उत्तम माना जाता है।

अन्यथा।

सामुद्रं तत्र पातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना।

अर्थ : सामुद्र जल–इस गांग जल से भिन्न जल को सामुद्र जल कहा जाता है। इसे आश्विन मास को छोड़कर अन्य समयों में नहीं पिया जाता है।

विश्लेषण : जल एक मात्र आकाश से ही भूमि पर आता है, यह आकाश जल गांग और सामुद्र भेद से दो तरह का होता है। सभी प्रकार के आकाशीय जल का नाम दिव्य या ऐन्द्र हैं। वरसते हुए जल को चांदी, पीतल, कांसा आदि किसी भी धातु निर्मित पात्र में जल ले लिया जाय और उसमें भात रख दिया जाय 5–6 घंटे बाद देखने पर यदि भात में कोई विकृति न हो और न रंग में परिवर्तन हो तो उसे गांग कहा जाता है, यह गांग जल का पहिचान है। और वह सर्वदा पेय स्वयं उतम होता है, और यदि आकाश से सामुद्र जल गिरता हो तो भी चांदी के पात्र में रखकर उसमें भात रखे, यदि भात के रंग में कोई परिवर्तन या उसमें विकृति हो जाय तो उसे कभी भी नहीं पीना चाहिये। किन्तु अगस्त्य तारा उदय होने पर जब सारा भूभाग निर्मल स्वच्छ हो जाता है तो आश्विन मास में उसका पीना भी हानिकारक नहीं होता। सुश्रुत ने भी उसका समर्थन किया है, यथा हानिकारक नहीं होता। सुश्रुत ने भी उसका समर्थन किया है, यथा–

''सामुद्रमप्याश्वयुजे मसि गृहीतं गांगवद् भवति।'

यह बात पुराणों से सिद्ध है कि मेघ दिग्गजों द्वारा समुद्र के जल को लेकर बरसाता है। समुद्रीय जल क्षारीय होता है, और क्षार भात को गला देता है इससे उसका पहिचान कियाजाता है। कभी–कभी दिग्गज गंगा के जल को भी लेकर मेघ द्वारा बरसाता है। उस जल में क्षार का सर्वथा अभाव रहता है। वह पीने योग्य होता है।

ऐन्द्रमम्बु सुपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत्। तदभावे च भमिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत्। शुचिपृथ्वसितश्वेते, देशेऽर्कपवनाहतम्।।

अर्थ : पीने योग्य जल– आकाशीय जल अच्छे, स्वच्छ धातु निर्मित पात्र में रखा हुआ विकृत न हो ऐसे जल का सदा सेवन करना चाहिये। यदि यह संभव न हो अर्थात् न मिल सके तो आकाशीय जल के समान गुण रखने वाले पृथ्वी पर स्थित जल का पान करना चाहिय। वह जल पवित्र –स्वच्छ विस्तीर्ण काले या श्वेत भूमि भाग में स्थित हो और दिन में सूर्य के किरण और शुद्ध वायु से युक्त हो ऐसे जल का सेवन करना चाहिये। अर्थात् अच्छी भूमि में जहाँ गंन्दगी इत्यादि न हो कृष्ण एवं श्वेत भूमि भाग में जहां पर सूर्य और हवा का संयोग निरन्तर होता रहे, ऐसा जल आकाश जल के समान होता है।

न पिबेत्पङ्क्शैवालतृणपर्णाविलास्तृतम्। सूर्येन्दुपवनादृष्टमभिवृष्टं घनं गुरू।। फेनिलं जन्तुमतप्तं दन्तग्राह्यतिशैत्यत।

अर्थ : पीने के अयोग्य जल–जिस जल में कीचड़, सेवार, तृण, पती आदि फैले हों जिससे जल मटमैला हो गया हो, जिस जल में सूर्य और चन्द्रमा के किरण न लगते हों जिसमें शुद्ध वायु का स्पर्श न होता हो, आकाशसे जल वरसने पर भी वह जजल धन (गाढ़ा) गुरू (तौल में भारी) फेन युक्त जन्तु कीड़े से युक्त सूर्य के ताप से अत्यन्त तप्त अर्थात् उष्ण एवं अधिक शीत होने से दांत में लगने वाले जल का सेवन नहीं करना चाहिये।

अनार्तवं च यद्दिव्यमार्तवं प्रथमं च यत्। लूतादितन्तुविण्मूत्रविषसंश्लेषदूषितम्।

अर्थ : अन्य अपेय जल–वर्षाकाल के अतिरिक्त अन्य समय में वरसे हुए जल का सेवन नहीं करना चाहिए। तथा वर्षा काल में वरसे हुये प्रथम वर्षा का जल भी नहीं पीना चाहिये। एवं जो जल लूता आदि प्राणियों के लाला (लार) विट् मूत्र एवं विष सम्पर्क से दूषित हो उस जल का सेवन भी नहीं करना चाहिए।

विश्लेषण : गरमी के दिनों में आंधी, तूफान आदि के चलने से आकाश मण्डल दूषित रहता है, उस समय जो जल वरसता है उन दूषित वस्तुओं के सम्पर्क से जल स्वयं दुष्ट हो जाता है, इसी प्रकार वर्षा ऋतु के अतिरिक्त शिशिर हेमन्त ऋतु में बहुत दिनों के बाद जो जल गिरता है वह भी आकाश के दूषित होने से दुष्ट हो जाता है और जिस जल में अनेक प्रकार के कीड़ें–कृमि उत्पन्न हों या विषैले जन्तु या विष मिल गया हो उसका सेवन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जो जल सर्वथा शुद्ध हो उसे ही पीना चाहिये।

पश्चिमोदधिगाः शीघ्रवहा याश्चामलोदकाः। पथ्याः समासात्ता नद्यो विपरीतास्त्वतो ऽन्यथा।

अर्थ : नदियों का जल–संक्षेप में पश्चिम समुद्र को जाने वाली एवं तेज बहने वाली एवं स्वच्छ निर्मल जल वाली नदियों का जल पीने योग्य होता है। इससे विपरीत नदियों का जल पीने में अपथ्य होता है।

उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः। हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्यास्ता एव च स्थिराः।
कृमिश्लीपदहृत्कण्ठशिरोरोगान् प्रकृवते।।

अर्थ : अन्य नदियों का जल–हिमालय और मलयाचल से निकलने वाली नदियों का जल जो निरन्तर पाषाण खण्ड पर गिरता है टूटता है ऐसे आक्षेप विक्षेप से जिनका जल चंचल रहता है उन नदियों का जल पीने में पथ्य होता है। यदि इन्हीं पर्वतों से निकली हुई नदियों का जल स्थिर अर्थात् बहता न हो या मन्द गति से बहता हो, पहाड़ चट्टानों पर गिरता न हो तो ऐसे नदियों का जल यदि सेवन किया जाय तो कृमि, श्लीपद, हृदयरोग एवं शिरोरोग को उत्पपन्न करता है।

विश्लेषण : मलय से उत्पन्न नदियों का स्थर जल कृमिरोग उत्पन्न करता है। हिमालय से उत्पन्न नदियाँ हृदयरोग श्लीपद कुष्ठ शिरोरोग, गलगण्ड और शोथ रोग को उत्पन्न करती है, इसलिये स्थिर नदी का जल अपेय है और शीघ्र बहने वाली एवं पत्थर के चट्टान–टुकड़े जिन नदियों में ढुलकते हों उस नदी का जल पीना चाहिए।

प्राच्यावन्त्यारान्तोत्था दुर्नामानि, महेन्द्रजाः। उदरश्लीपदात ङकान्, सह्यविन्ध्योद्भवाः पुनः।। कुष्ठपाण्डुशिरोरोगान्, दोषध्न्यः पारियात्रजाः। बलपौरूषकारिण्यः, सागाराम्भस्त्रिदोषकृत्।

अर्थ : विभिन्न नदियों के जल का दोषप्राच्य देश (पूरब) आसाम–बंगाल आदि देश, अवन्ती–(उज्जैनी) अपरान्त (कोंकण देश से निकलने वाली) नदियों का जल अर्शरोग महेन्द्र पर्वत से निकलने वाली नदियों का जल उदररोग एवं श्लीपद रोग को, सह्याद्री और बिन्ध्य पर्वत से निकलने वाली नदियों का जल कुष्ठ–पाण्डु रोग और शिरोरोग को उत्पन्न करता है। पारियात्र पर्वत से निकलने वाली नदी का जल त्रिदोष शामक, बल, पौरूष शक्ति को उत्पन्न करता है। तथा समुद्र का जल त्रिदोष को कुपित करने वाला होता है।

विश्लेषण : इस प्रकार ये विभिन्न पर्वत से निकलने वाली नदियों के जल का गुण बताया है इन गुणों का वर्णन इस दृष्टि से किया गया है कि इन नदियों के तट पर निवास करने और उनका जल पीने से उपरोक्त रोग हो जाते हैं। जो लोग जन्म से ही वहाँ निवास करते हैं और उन नदियों का जल पीते हैं तो उन्हें वह जल सात्म्य होने से हानिकर नहीं होता है किन्तु अन्य स्थान से आये हुए व्यक्तियों को ऊपर दिये गये रोग हो जाते हैं। स्वस्थ व्यक्ति अपने स्वास्थ्य को सुन्दर बनाने की दृष्टि से पारियात्र पर्वत पर निवास और वहाँ से निकलने वाली नदियों का जल सेवन कर सकता है।

विद्यात्कूपतडागादीञजाणलानूपशैलतः।

अर्थ : कूप तडाग आदि जलों के गुण–कूप, तडाग आदि के जल का गुण जांगल देश आनूप देश और पहाड़ी प्रदेश के गुण के अनुसार होता है।

विश्लेषण : कूप और तडाग के बाद, आदि शब्द का प्रयोग किया गया है इससे सारस चौंज प्रस्रवण उद्भि ाद् वापी, नदी आदि लिये जाते हैं यहाँ पर देश के अनुसार जल का गुण बताया गया है। अर्थात जांगल देश का जल स्वास्थ्य कर अनूप देश का जल रोगकर और पहाड़ी प्रदेश का जल कही लाभकर और कहीं हानिकार माना गया है। ऐसा बताया है पर अन्यत्र कूप इत्यादि भौम जल जिसकी संख्या आठ बतायी गयी है, उनका अलग–अलग गुण बताया गया है। जैसे–(1) कूप–उसे कहते हैं जो इंटे या पत्थर के दीवार से खोदकर बनाया जाता है कूप का जल यदि मधुर है तो त्रिदोष शामक लघु और सदा पथ्य होता है। यदि क्षारीय है तो कफ वात शामक दीपन और पित्त को बढ़ाता है। और यदि जल कषाय है तो कफ पित्त शामक और वात वर्द्धक होता है। इसी प्रकार रस के अनुसार आठो जल होते हैं।

नाम्बुपेयमशक्या वा स्वल्पमल्पाग्निगुल्मिभिः। पाण्डूदरातिसारार्शोग्रहणीशोषशोथिभिः।
ऋते शरन्निदाघाभ्यांपिबेत्स्वस्थो ऽपि चाल्पशः। समस्थूलकृशा भुक्तमध्यान्तप्रथमाम्बुपाः।

अर्थ : जलपान के अयोग्य रोगी–मन्दाग्नि, गुल्म, पाण्डू, उदररोग से पीडित तथा अतिसार, अर्श, ग्रहणी शोष रोग और शोथ रोग से पीडित रोगियों को जल नहीं पीना चाहिए। यदि बिना जल के रहने में असमर्थ ह ों तो उन्हे थोड़ी मात्रा में जल पीना चाहिए। यदि स्वस्थ व्यक्ति हो तो उसे भी थोड़ी मात्रा में जल पीना चाहिए किन्तु शरदऋतु, और गर्मी के ऋतुओं में अधिक जल पीना निषेध नहीं है।
सामान्यतः भोजन के मध्यमें अन्तमें और पहले जल पीने से सम, स्थूल, और कृश व्यक्ति होते हैं। विश्लेषण : जल एक जीवनीय वस्तु है उसे निरन्तर पीने का विधान है। किन्तु ऐसे कुछ रोग है जिनमें जल नहीं पीना चाहिए यदि वे रोगी विना जल के न रह सकें ती उन्हें अल प मात्रा में जल पीना चाहिए। किन्तु यदि ऊपर बताए हुये रोगी तृष्णा से अधिक पीड़ित हो तो उन्हें औषध से संस्कार किया हुआ जल पिलाना चाहिए जैसा कि–

काममल्पमशक्तौ तु पेयमौषधसंस्कृतम्। पाषाण रूप्यमृद्धेम जाततापार्क तापितम्।। पानीयमुष्णं शीतं वा त्रिदोषघ्नं तृडर्तिजित।

अर्थ : स्वस्थ व्यक्ति भी सदा जल बार–बार थोड़ी मात्रा में ही पी सकते हैं किन्तु स्वभावतः जब गर्मी अधिक होती है उस समय इच्छा के अनुसार बार–बार जल पी सकते हैं क्योंकि सूर्य की ताप से शरीर में उष्णता बढ़ी रहती हैं किन्तु उस समय भी अधिक मात्रा में जल नहीं पीना चाहिए। क्योंकि अधिक जल पीने से आहार का पाचन उचित रूप में नहीं होता जैसा कि–

अल्यम्बूपानात् न विपचते ऽन्न, अनम्बुपानात् स एवं दोषः। तस्मात् नरो वह्नि विवर्धनाय, मुहुर्मुहुः वारि पीवेदभूरि।।

अर्थ : भोजन के समय जल पीने का एक विशेष नियम यहां बताया है जल पीकर यदि भोजन किया जाय तो जल अग्नि को मन्द करता है, जिससे शरीर में कृशता, मध्य में पिया जाय तो आमाशय में कफ को बढ़ाकर धातुओं की पुष्ठि और धातुओं की समता रखते हुये शरीर को सम रखता है। यदि भोजन के अन्त में जल पिया जाय तो आमाशय में कफ को विशेष बढ़ाते हुये शरीर को स्थूल बनाता है। इस प्रकार भोजन के पहले जल पीने से मन्दाग्नि से अन्न का सम्यक पाचन न होने से कृश, मध्य में जल पीने से धातुओं के सम होनेपर सम शरीर और अन्त में पीने से स्थूल व्यक्ति होता है। अन्यत्र भी इसका समर्थन किया गया है यथा–

भुक्तत्यादौ जलं पीतमग्निसादं कृशांगताम्। अन्ते करोति स्थूलत्व मूर्ध्व चामाशयात कफम्।। मध्यमध्यंगतां साम्यं धातुनां धाम्यं जरणंसुखम्।
शीतं मदात्ययग्लानिमूर्छाच्छर्दिश्रमभ्रमान्।। तृ ष्णोष्रगदाहपित्तास्त्रविषाण्यम्ब् नियच्छति।

अर्थ : शीतल जलका गुणः–मदात्यय, शरीर की ग्लानि मूर्च्छा, वमन, परिश्रम जन्य थकावट, भ्रम, प्यास की वृद्धि ओर शरीरकी उष्णता आहार–विहार जन्य दाह, रक्तपित्त और विष भक्षण जन्य विकार को शीतल जल दूर करता है।

दीपनं पाचनं कण्ठयं लघूष्णंवस्तिशोधनम्।। हिध्माध्मानानिलश्लेष्मसद्यःशुद्धिनवज्वरे। कासामपीनसश्वासपार्श्वरूक्षु च शस्यते।

अर्थ : उष्ण जलका गुण–उष्ण जल अग्निदीपक, पाचक, कण्ठ का शोधक अर्थात् स्वरभेद नाशक पचने में लघु, वस्ति का शोधक और उष्ण होता है। हिक्का, आध्मान वात एवं कफ जन्य रोग, वमनादि कर्म से शरीर के सद्यः शुद्ध होने पर, नयेज्वर में तथा काम, अपक्व पीनस, श्वास पार्श्व पीड़ा में लाभकर है।
विश्लेषण : उष्ण जल करने के बाद उसे शीतल कर पीना चाहिए। जल को उष्ण करने के लिए तीन विधियां प्रसिद्ध है।
(1) चतुर्थांःश जल जलाकर (2) तीन भाग जल जलाकर, और (3) अर्धभाग जलाकर मह क्रम पित्त, कफ ओर वायु के लिए विहित है और इसे शीतल कर पीना चाहिए। यद्यपि पित्तज विकार

में उष्ण जल का सर्वथा निषेध है उसका तात्पर्य यह है कि गरम–गरम जल उसमे नहीं देना चाहिए। जल पीने की विधियाँ भी तीन बतायी है। ताजा, शीतल जल का पाचन 6 घण्टे में, गरम कर शीतल होने पर पिया जाय तो तीन घण्टे गरम किया हुआ जल जब पीने योग्य हो जाय अर्थात् मुह न जले तो उसका 1 घन्टे में पाचन होता है। जैसा कि–

पीतं जलं जीर्यति याम युग्मात, यामैकमात्रं श्रृत शीतलंच।
यामार्धमात्रं च श्रृतं कदुर्ष्णपय पवाके त्रयएव काला।।

अर्थ : वाराणसी में आठ करोरिया का जलल सन्तत जैसे भयानक ज्वर में देने का प्रचलन है। अर्थात् आठ कटोरी जल पकाते–पकाते जब एक कटोरी रह जाता है तो उसे पिलाया जात ा है, विशेषकर इसमें एक लवण छोड़कर पकाने पर यह जल सन्तत (मियादी) ज्वर की दूर करता है। इस प्रकार अष्टमांश जल का शेष रखा जाता है और बताया भी है–

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनाऽर्थके नवा। अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं भवेत्।।

इस प्रकार उष्ण और शीतल जल पान की विधि बतायी गई है।

अनभिष्यन्दि लघु च तोयं क्वथितशीतलम्। पितयुक्ते हितं दोषे, व्युषितं तत्त्रिदोषकृत्।।

अर्थ : गरम कर शीतल किए हुये जलका गुणः–गरम करने के बाद शीतल किया हुआ जल पीने से वह कफ कारक नहीं होता है अर्थात् श्रोतों का स्त्राव यथावत उत्पन्न करता है तथा पचने में शीतल जल की अपेक्षा अधिक लघु होता है। अर्थात् बहुत जल्दी पचता है। और पित्तयुक्त अर्थात् वात पित, पित कफ, एवं सन्निपात जिसमें पित्त की अधिकता होती है उसमें लाभकर होता है। व्युषित (वासी जल त्रिदोष का प्रकोपक होता है।)

विश्लेषण : पित्त जन्य विकार में उष्ण जल का निषेध है पर द्वन्द्वज जिनमें पित्त का संसर्ग होता हैं उनमें, सन्निपात जन्य रोगों में गरम कर ठण्डा किये हुये जल का प्रयोग होता है। किन्तु गरम–गरम जल का प्रयोग निषिद्ध है, वासी का तात्पर्य, दिन का गरम किया हुआ जल रात्रि में और रात्रि का गरम किया जल दिन में पीना बासी माना जाता है। अर्थात् दिन का गरम दिन में रात्रि का गरम रात्रि में पीने से कोई हानि नहीं होती।

नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु। तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम्।।

अर्थ : नारियल के जल का गुण–कच्चे नारियल का जल स्निग्ध, स्वादु, वाजीकर, शीतल और लघु होता है। प्यास की वृद्धि पितज विकार और बात बिकार को दूर करता है और अग्नि दीपक तथा मूत्राशय शोधक है।

विश्लेषण : सामान्य जल के गुण का निर्देश करते हुये यहाँ नारियल के जल का गुण भी बताया है। यह परम वस्तिशोधक है, मूत्र–कृच्छ् पीत, उष्ण ा मूत्र का निकलना और यदि सर्वथा मूत्र का आना बन्द हो जाता है तो कच्चे नारियल का जल पीने से शीघ्र ही लाभ होता है। यह जल की अपेक्षा अत्यधिक शीतल होता है। चेचक निकल जाने के बाद शरीर में पड़े हुये दागों पर यदि इससे प्रक्षालन किया जाय तो वे दाग बिल्कुल ही नष्ट हो जाते है। प्रक्षालन चेचक के समाप्त होनेपर लगभग एक मास तक निरन्तर करना चाहिए। चेचक रोग जन्य दाह अथवा किसी भी प्रकार से शरीर में दाह हो तो इसके पीने से शीघ्र ही लाभ होता है।

वर्षासु दिव्यनादेये परं तोये वरावरे।

अर्थ : संक्षेप में जल सेवन विधिका निर्देश–वर्षा ऋतु में दिव्य (आकाशी जल) और नादेय (नदी का जल) परम श्रेष्ठ और परम निकृष्ट क्रमशः है।

विश्लेषण : वर्षा ऋतु में आकाश से गिरे हुये जल को किसी पात्र विशेष में रखकर पीना सर्वोतम होता है किन्तु वह जल भूमि के ऊपर न गिरने पावे और गागं जल हो गागं जल का लक्षण यह है कि पात्र में संगृहीत वर्षा के जल में बना हुआ भात रखने पर जिसमें कोई विकृति न हो तो उसे पीना चाहिए और यदि उसमें विकृति हो जाय तो वह सामुद्र जल है उसे सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। वर्षा काल में नदियों का

जल विशेष गन्दा और पेड़ पत्तियों के गिरने से तथा अनेक प्रकार के गन्दे वस्तुओं के बहने से दूषित हो जाता है। अतः उसका सेवन करना हानिकारक होता है। इसलिए केवल वर्षा ऋतु में उतम और अधम जल का निर्देश यहाँ किया है। किन्तु मध्य जल का निर्देश नहीं किया है इससे स्पष्ट है कि कूप तडाग आदि का जल मध्यम है। यदि वह भी दूषित हो तो उसे गरम कर पीना चाहिए। इस प्रकार यहां जल वर्ग का निर्देश किया गया है।

अथ दुग्धार्दिवर्गः।

(गव्यं माहिषमाजं व कारभं स्त्रैणमाविकम्।
ऐभमैकशफ चेति क्षीरमष्टविधं मतम्।।) स्वादे पाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम्। वातपितहरं वृष्यं श्लेष्मलं गुरू शीतलम्। पायः पयः–
अत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्।
क्षतक्षीणहितं मेघ्यं बल्यं स्तन्यकरंसरम्।। श्रमभ्रममदालक्ष्मीश्वासकासातितृट्क्षुधः। जीर्णज्वरं मूत्रकृच्छ्रं रक्तपितं च नाशयेत्।।

अर्थ : सामान्यतः दुग्धों का गुण–सभी प्रकार के गौ आदि जंगम जीवों के दुध का गुण रस और विपाक में स्वादु, स्निग्ध, ओज को बढ़ाने वाला धातुओं को बढ़ाने वाला, वातपित्तनाशक, शुक्रवर्धक, कफवर्धक, गुरू और विशेष रूप से शीतल होते है। इन दुग्धों में गौ का दूग्ध जीवनीय, रसायन, क्षतसे क्षीण व्यक्तियों की कान्ति क्षीण हो गई है उनके लिए तथा श्वास, कास, से पीड़ित भूख से पीड़ित व्यक्तियों के लिए हितकारी है। जीर्णज्वर, मूत्रकृचछ़ और रक्तपित्त रोग को नाश करने वाला है।

विश्लेषण : यहाँ सामान्यतः सभी दुग्धों का गुण बताकर सबसे उत्तम गौ के दुग्ध का गुण बताया गया है। सामान्यतः गुण के निर्देश में प्रायः शब्द पढ़ गया है प्रायः का तात्पर्य यह है कि दूध आठ प्रकार का होता है जिसमें गौ, भैंस, बकरी, ऊँट, स्त्री, भेड़, हाथी और एकशफ अर्थात् घोड़ी और गदही इन्ही आठों का दूध चिकित्सा क्षेत्र में प्रयुक्त होता है इन सभी का दूध इन ऊपर बताये हुये गुणों से युक्त नहीं होता जैसे–ऊँट का दूध कुछ नमकीन उष्ण और रूक्ष होता है। बकरी का दूध हल्का होता है भेड़ का दूध उष्ण होता है। धोड़ी गदही का दूध–अल्प, लवण और उष्ण होता है। इसीलिए यहाँ प्रायः शब्द को निर्देश है दूध को रस वियाक में मधुर माना है संक्षेप में सभी मधुर विषाक में भी मधुर होते हैं जैसा कि मधुरों मधुरं पच्यते कहा है।
किन्तु चावल मधुर और गुरू होता है उसका विपाक अम्ल होता है किन्तु दूध गुरू और मधुर होते हुये भी इसका विपाक मधुर ही होता है इसे स्पष्ट करने के लिए ''स्वादुपाकरस'' बताया है। धातुवर्धक बताते हुये इसे वृष्य बताया है इसका तात्पर्य यह है रसादि सम्पूर्ण धातुओं को बढ़ाते हुये विशेष रूप से
यह शुक्र वर्धक है। सभी दुग्ध गुणों में स्निग्ध होते हैं पर स्निग्धता उत्पन्न करने की शक्ति भैंस के दूध और बकरी के दूध में बहुत ही अल्प होती है। ऊँट, घोड़ी, गदही के दूध में भी स्निग्धता उत्पन्न करने की शक्ति कम होती है। इन्ही सब बातों को लेकर यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग किया गया है। गौ के दूग्ध का विशेष गुण वर्णन करते हुये प्रायः नहीं बताया है। यद्यपि जीवनीय, मेध्य आदि गुण कफ का ही है। अतः जीवनीय रसायन आदि गोदुग्ध का विशेष गुण होते हुये कफ वर्धक गुण नहीं है। इसलिए श्वास, कास रोगों में इसका प्रयोग हितकर बताया है। यह भी स्पष्ट किया है कि यह इन रोगों को नष्ट नहीं करता है पर हानि भी नहीं करता है। जीवनीय गुणों के कारण इन रोगों में जीवनीय शक्ति का विस्तार करता है। और जीर्णज्वर, म ूत्रकृच्छ् और रक्तपित्त को नष्ट करता है। मेधाशक्ति बढ़ाने के इच्छुक व्यक्तियों अर्थात् बुद्धिजीवी व्यक्तियों के लिए गौ का दुग्ध विशेष लाभकर होता है। यहाँ केवल सामान्य गौ के दूध का वर्णन किया गया है पर अन्यत्र वर्णभेद से गौवों का दुग्ध भिन्न–भिन्न गुणयुक्त होता है ऐसा बताया है। यथा–

कृष्णाया गोर्भवेत् दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्। पीताया हरते पित्तं तथा वातहरं भवेत।। श्लेष्मल गुरूशुक्लाया रक्तचित्रा च बातहृत। बिंवस्साबालवत्सायाः पयोदोषलमीरितम्।। बष्कयिण्यास्त्रिदोषध्नं तर्पणं वलकृत्ययः। जांगलान्प शैलेषु चरन्तीनां यथात्तरम्।। पयोगुरूतरं स्नेहो यथाहारं प्रवर्तते। स्वल्पान्न भक्षणाज्जातं क्षीरं गुरू कफ प्रदम्।। तत्तु वर्ण्यं परं वृष्यं स्वस्थानां गुणदायकम्। पलालतृण कार्पास वीजजातंगुणैहितम्।। (भाव प्रकाश) तरूणीनां गवां दुग्धं मधुर्रं च रसायनम्।

त्रिदोष शभनं चैव वृद्धाया दुर्बलं मतम्।। सगर्भायाःसमुद्विष्टं त्रिमासोर्ध्व च पित्तलम्।
क्षारं च मधुरं चैव मतं वैशोषकारकम्।। प्रथमे च प्रसूतायाः निःसारं गुणहनिकम्। नूत्न प्रसूतगोदुग्धं रूक्षदाहकर मतम्।। रक्तदोषस्य जनकं पित्तलं च मतं बुधैः।
चिर प्रसूता दुग्धं तु मधुरं दाहकं पटू।। (निघण टुरत्नाकर) शस्तंबत्सैकवर्णाया धवली कृष्णयोरपि।
इक्ष्वादा माषपर्णादा उर्ध्व श्रृणांचय भवेत।। तासां गवां हितं क्षीरं श्रृतं वा श्रृतं मेंव वा। गव्यं प्रत्युषसि क्षीरं गुरू विष्टम्भि दुर्जरम्। तस्मा दभ्युदिते सूरूर्ये यामं यमार्धमेव वा।। समुत्तार्य्य तते ग्राह्य तत्पय्यं दीपनंलघु।
हितमत्यग्न्यनिद्रेभ्यो गरीयो माहिषं हिमम्।।

अर्थ : भैस के दूग्ध का गुणः–भैंस का दूध जिन व्यक्तियों की अग्नि अधिक तीव्र अर्थात् भस्मक रोग हो गया हो और जिन्हें निद्रा न आती हो उनके लिए लाभकर है। गौ के दूधकी अपेक्षा अधिक गुरू और शीतल है।
विश्लेषण : गौ की अपेक्षा भैस का दूध अधिक मधुर अग्निनाशक निद्रा जनक और अधिक स्निग्ध होता है इसलिए यह अधिक बल वर्धक होता है। गौ दुग्ध की अपेक्षा भैंस के दूध से घी अधिक निकलता है। भोजन में इसी का प्रयोग अधिक होता है। सुश्रुत ने इसका गुण लिखते हुये–

महाभिष्यन्दिमधुरं माहिषंवह्निनाशनम्। निद्राकरं शीततरं गव्यात् स्निग्धतर्रगुरू। बताया है। किन्तु चरक ने इसे स्नेह में कम बताया है यथा–
महीषाणां गुरूतरं गव्याच्छीततरं पयः। स्नेहादून मनिद्राणां मत्यन्निनांहित च न्त।

अर्थ : इसका तात्पर्य यह है कि स्नेह क्रिया के लिए भैंस का दूध उतना उतम नहीं होता है जितना गौ का दूध ! इसीलिए स्नेह क्रिया में भैंस के दूध को कम और गाय के दूध को अधिक मात्रा में उपयोग किया जाता है। किन्तु स्वस्थ व्यक्तियों के लिए जिनकी अग्नि तीव्र है उनके लिए भैंस का दूध अधिक बल वर्धक होता है। क्योंकि उसमें घृत का अंश अधिक रहता है। रोगी व्यक्तियों के लिए गौ का दुग्ध विशेष लाभकर होता है।

अल्पाम्बुपानव्यायामकटुतिक्ताशनैर्लघु। आजं शोषज्वरश्वासरक्तपितातिसारजित्।।

अर्थ : बकरी के दूधका गुण–अल्प मात्रा में जल पीने से, अधिक व्यायाम करने से कटु और तिक्तपत्तियों के खान से, बकरी का दूध लघु होता है, तथा राजयक्ष्मा, ज्वर, श्वास, रक्तपित्त और अतिसार रोग को दूर करता है।
विश्लेषण : अन्यत्र भी इसी का समर्थन करते हुए बताया है यथा–

अजानामल्पकायत्वात् कटुतिक्त निषेवणात् स्तीकाम्बुपानात् व्यायामात् सर्व रोगापहं पयः।

अर्थ : बकरियाँ शरीर से छोटी होती है घूम फिर कर सभी प्रकार की पत्तियां, घासों को चरती हैं अधिक घूमने से उसे व्यायाम स्वयं हो जाता है अतः इसका दूध स्वभावतः हल्का होता है, इसी प्रकार जो गौ जगंलों में चरती है उसका भी दूध बाँधकर खिलायी जानेवाली गाय की तुलना में हल्का होता है। जो बकरी को बांधकर खिलायी जाती है उसका भी दूध गुरू होता है और उसके दूध में ऊपर बताए हुए गुण अल्प मात्रा में ही पाये जाते हैं। बकरियों के दूध के हल्के होने में उनका अधिक व्यायाम करना ही है। जो गौ व्यायाम करती हैं उनका भी दूध हल्का हो होता है। इसीलिए प्रातःकाल की अपेक्षा सायंकाल का दूध हल्का माना गया है। क्योंकि गौवें दिन में चरने जाती हैं। सायंकाल घर आवास पर आती है तो व्यायाम स्वभावतः दिन में होता है इसलिए उनका दूध हल्का होता है।
रात्री में गौवें विश्राम करती है व्यायाम रहित होती है इसीलिए प्रातःकाल का दूध सायंकाल की अपेक्षा गुरू होता है। यह नियम बकरियों में भी लागू होता है। बकरियों का दूध सब रोगों को दूर करते हुये रोगों में विशेष राजयक्ष्मा को दूर करती हैं क्योंकि राजयक्ष्मा के जीवाणुओं को दूर करने की शक्ति बकरी के दूध में तथा बकरी के पूरे अंग में रहती है। इसलिए बकरियों के संसर्ग में रहना उसका मांस दूध, दही मूत्र का सेवन यक्ष्मारोग नासक बतलाया गया है।

ईषद्रूक्षोष्णसवगमौष्ट्रकं दीपनं लघु। शस्तं वातकफानाहकृमिशोफोदरार्शसाम्।।

अर्थ : ऊट के दूध का गुणः– ऊट का दूध कुछ रूक्ष, उष्ण और नमकीन होता है। अग्निदीपक और लघु गुण युक्त होता है। वात जन्य एवं कफ जन्य रोग, आनाह, कृमि, शोथ, उदररोग और अर्श रोगों में इसका प्रयोग पथ्य होता है।

मानुषं वातपितासृगभिघाताक्षिरोगजित्। तर्पणाश्च्योतनैर्नस्यैः–– ––बाढमुष्णं त्वकशफं लघु।।
शाखावातहरं साम्ललवणं जडतारकम्।

अर्थ : स्त्री के दूध का गुण–स्त्री का दूध वात, पित्त, रक्त और अभिभात जन्य नेत्र के रोग को दूर करता है। नेत्र के तर्पण के लिए तथा नेत्र में आश्चयोतन और नस्य में इसका प्रयोग होता है। अर्थात् तर्पण, आश्च्योतन नस्य से नेत्र रोगों को दूर करता है। विशेष कर रक्तपित रोग में नस्य का प्रयोग और नेत्र रोग में तर्पण, आश्च्योतन का प्रयोग किया जाता है। भेड के दूध का गुणः– भेड का दूध वीर्व में उष्ण और हृदय के लिए हानिकारक तथा बातव्याधि को दूर करता है। तथा हिचकी, श्वास, पित्त और कफ को बढ़ाने वाला होता है। सुश्रुत ने इसे गुरू होने से पित्त कफ नाशक और वातज श्वास में भी लाभकर बताया है। हथिनी के दूध का गुणः–यह शरीर में स्थिरता करने वाला होता है। एकशफ (धोड़ी और गदही) के दूध का गुण–घोडी एवं गदही का दूध अत्याधिक उष्ण, लघु, तथा शारवा (रक्तादि धातु और त्वचा) गत बात को दूर करने वाला कुछ अम्ल और कुछ़ नमकीन होता है। तथा सेवन क रने पर शरीर में जड़ता उत्पन्न करता है। अर्थात् बुद्धिमान्द्य को करता है।

पयोषभिष्यन्दि गुर्वामं, युक्तया शृतमतोऽन्यथा।। भवेद् गरीयोऽतिश्रृतै धारोष्णममृतोपमम्।

अर्थ : क्रिया विशेष से दूध का गुण–सभी प्रकार के दूध का यदि कच्चे रूप में सेवन किया जाय तो अभिष्यन्दि (कफप्रकोपक) एवं गुरू होता है। यदि युक्ति पूर्वक दूध को पकाकर पिया जाय तो वह न कफ कारक होता है और न गुरू होता है। दूध को जितने अधि मात्रा में पकाया जाय अर्थात मलाई खोवा आदि बनाया जाय तो वह पचने में अधिक भारी होता है। धारोष्ण दूध सेवन अमृत के समान गुण करने वाला होता है।

विश्लेषण : प्राणियों का कच्चा दूध गुरू–कफकारक होता है। किन्तु गौ का तत्काल का दूहा हुआ धारोष्ण लाभकर होता है,। किन्तु यदि वह धारा से शीत हो तो उसका सेवन नहीं करना चाहिए। भैंस का दूध धारोष्ण सेवन नहीं करना चाहिए। शीतल होने पर इसका सेवन किया जाता है। जैसा कि–

धारोर्ष्ण गो पयो वल्यं, धाराशीतच्च माहिषम्।

बताया है युक्ति पूर्वक पकाने का तात्पर्य यह है कि आधाजल और आधा दूध एक साथ पकाया जाय और जब केवल दूध मात्र रह जाय तो उसका सेवन लाभकर होता है। बिना जल के दूध को अधिक मात्रा में पकावा जाय और वहा गाढ़ा हो जाय तो वह अधिक भारी होता है। दूध गरम कर ठण्डा होने पर पित्त विकार में तथा गरम दूध कफ वात जन्य विकार में लाभकर हो ता है।
अतः तिस दोष धाातु, औश्र ममल के अनुकूल जो रसादि होते हैं उसे वर्द्धक, और जो प्रतिकूल होते हैं उनका नाशक होता है। मादक दही उसे कहते हैं जो दूध अपनी अवस्था को छोड़कर गाढ़ा हो जाय, पर पूर्ण गाढ़ा न हो और उसमें अम्लता न हो, अर्थात् अधजमा दही इसका सेन सर्वथा अर्जित है।

तक्रं लघु कषायाम्लं दीपनं कफवातजित्।। शोफोदरार्शोग्रहरणीदोषमूत्रग्रहारूचीः।
प्जलीहग्ल्मघृतव्यापद्गरपाण्ड्वामयाञ्ययेत्।

अर्थ : तक्र का गुण– तक्र गुण में लघु, रस में कषाय और अम्ल, अग्नि दीपक, कफ एवं वात शामक होता है। सेवन करने से, शोथ, उदर रोग, अर्श, ग्रहणीरोग, मूत्रावरोध, भोजन में अरूचि, प्लीहा की वृद्धि, गुल्मरोग, घृत पान जन्य उपद्रव, गर विषजन्य उपद्रव ओर पाण्डुरोग को दूर करता है।
विश्लेषण : अम्लरस विपाक गुण युक्त दही का तक्र बना कर सेवन करने पर वही दही विशेष गुण युक्त होकर अनेक रोगों में लाभकर माना है, विशेषकर उदर सम्बन्धि रोगों में–और बताया भी है। न तक्र

सेवी व्यथते कदाचित्, न तक्र, दग्धा प्रथवन्ति रोगा यथा स ुराणाममृतं सुखाय, तथा नराणां भुवि तक माहु, इस प्रकार गुण युक्त तक्र को भी सभी रोगों में प्रयोग करना वर्जित किया हैं, यथा–

नैव तक्रं क्षते दद्यात्, नोष्णकाले न दुर्बलैः। न मूर्च्छाभ्रम दाहेषु, न रोगे रक्त पंत्तिके।।

अर्थः यह तक मन्दक दधि (अथ जमा) से भी बनाया जाता है, पर उसका सेवन सर्वथा वर्जित है, वात जन्य रोगों में सेंधा नमक मिलाकर अम्लतक्र, कृमि जन्य रोगों में चीनी मिला हुआ मधुर तक्र, कफ जन्य रोग में सोंठ मरिच, पीपर, एवं सोंचर नमक मिलाकर देने से विशेष लाभ होतो है। तक्र का निर्माण अनेक प्रकार से होत ा है जिसमें पूरे दधि को जल में घोल दिया जाता है। इसे घोल कहते है।

2–छाली अलग कर दधिमात्रा को पानी मिलाकर मथने को मथित कहते हैं।

3– कर्वल छाली को जल में मिलाकर मथकर घृत निकाल कर बचे हुए भाग को तक्र कहते है। 4–छाली में अधिक जल मिला कर मथने के बाद घी निकालने के बाद उसे छाछ कहते हैं।

5– छाली निकालकर दधि में अधिक जल देकर मथ कर पतला बनाने को उदश्वित कहा जाता है।

इनमें घोल को छोड़कर चारों को तक्र शब्द से व्यवहार में लाया जाता है। किन्तु विशेष लाभकारी मलाई निकालकर थोड़े जल से मथा हुआ और घृत निकाला हुआ तक्र ही होता है। बार–बार मथने से और स्नेह निकल देने से दधि के सभी दुर्गुण दूर हो जाते हैं। गुण वर्तमान ही रहते हैं इस लिए यह अधिक लाभकर रहता है।

तद्वन्मस्तु सरं स्रोतःशोधि विष्टम्भजिल्लघु।

मस्तु–मस्तु उसे कहते है जो दधि से जल अलग होता है वह सारक, स्रोतों का शोधक, विष्टम्भ को दूर करने वाला और लघु होता है एवं तक्र में जो गुण वर्तमान है वे सभी गुण दधि के जल में वर्तमान होते है।

नवनीतं नवँ वृष्यं शीतं वर्णबलाग्निकृत्। सङ्ग्राहि वातपित्तसृक्क्षयार्शो •दितकासजित।
क्षीरोद्भवं तुं सग्राहि रक्तपिताक्षिरोगजित्।

अर्थ : नवनीत का (मक्खन)–गुण–नया निकाला हुआ मक्खन शुक्र वर्धक शीतल, वर्ण्य, बल और अग्नि को बढ़ाने वाला होता है यह ग्राही, वात, पित्त, रक्त, क्षय, अर्श, अर्दित और कास रोग को दूर करने वाला होता है। तथा नेत्र रोगों में लाभकारी तथा नेत्र के बल को बढ़ाने वाला होता है। वृद्ध (क्षीण) व्यक्तियों के लिए पथ्य एवं निरन्तर मक्खन सेवा से शरीर में कोमलता आती है। दूध से निकाला हुआ मक्खन ग्राही, रक्तपित्त तथा नेत्र रोगों को दूर करने वाला होता है।

विश्लेषण : मक्खन, दूध एवं दधि दोनों से निकाला जाता है पर व्यवहार में दूध का ही मक्खन लिया जाता है, दही से बनाये हुए का नाम लैनू है। नवनीत का अपभ्रंश लैनू ही हो सकता है। दही से निकाला गया या दूध से निकाला गया, दोनों अधिक शीत वीर्य होता है, यह वात रक्त, रक्तपित एवं रायक्ष्मा रोग को दूर करता है 'अर्दित रोग में यह शुक्र वर्धक एवं स्निग्ध होने से सूखे हुए स्रोतों को कोमल बनाता है।

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुः शुक्रचक्षुषाम्। बालवृद्धप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वराथिनाम्। क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्। वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। स्नेहानामुतमं शोतं वयसः स्थापनं परम्। सहस्रवीर्य विधिभिर्धृतं कर्मसहस्रकृत्।। मदापस्मारमूर्च्छायिशिरः कर्णाक्षियोनिजान्। पुराणं जयति व्याधीन् व्रणाशोधनरोपणम्।

अर्थ : घृत का गुण–सामान्यतः सभी प्रका र का घृत बृद्धि, स्मृति, मेधा (धारण शक्ति) अग्नि, बल, आयु, शुक्रवर्द्धक, नेत्र के लिए हितकारी होता है। बाल, वृद्ध एवं प्रजा (सन्तान उत्पति के इच्छुक) कान्ति, कोमलता एवं स्वर को उतम बनाने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए विशेष लाभकारी होता है, एवं क्षत से क्षीण विसर्प रोग से पीड़ित तथा शस्त्राघात और अग्नि से जल जाने के कारण जिन व्यक्यिों को कष्ट होता हो उन्हें एवं वात, पित, विष जन्य रोग, उन्माद, यक्ष्मा और अलक्ष्मी (शरीर के दुर्बल एवं चिन्ताग्रस्त होने के कारण जिनमें शरीर की शोभा नष्ट हो गयी हो) और जीर्ण ज्वर को दूर करने वाला होता

है। स्नेहों में सबसे उत्तम शीतल परम व्यवस्थपक घृत होता है विधि पूर्व विभिन्न औषधियों से संस्कार किया हुआ घृत का गुण हजार गुना बढ जाता है और हजारों रोगों को दूर करने वाला होता है। पुराने घृत का गुण–एक वर्ष के बाद घृत पुराना हो जाता है। उसका सेवन मदात्यय, अपस्मार, मूर्च्छा, शिर, कर्ण, नेत्र और योनिगत रोगों को दूर करता है तथा व्रण का शोधन और रोपण करता है।

विश्लेषण : घृत विभिन्न गौ, भैंस, बकरी आदि का होता है यद्यपि ये सभी गुण घृत में पायें जाते हैं फिर भी ये सभी गुण गौ के घृत में ही विशेष रूप में पाये जाते हैं। आचार्य ने बालक अर्थात् सोलह वर्ष तक के व्यक्तियों के लिए, वृद्ध 60 वर्ष के बाद के व्यक्तियों के लिए हितकर और विशेष कार्य कर बताया है। प्रथम वृद्धि के अवस्था में घृत सेवन से सभी धातुएँ उतम रूप से निर्मित होते है और सभी स्रोत स्निग्ध होकर अपना–अपना कार्य करते हैं। सोलह वर्ष के बाद जब सम्पूर्ण शरीर पूर्णरूप से समृद्ध धातु वाला हो जाता है ता`उस व्यक्ति के लिए प्राकृतिक आहार उतम रूप से धातुओ का निर्माण करते हैं। 60 वर्ष के बाद जब स्वतः धातुएं क्षीण होने लगती हैं तो उस समय क्षीणता की रक्षा के लिए घृत खाना आवश्यक होता है। यदि सोलह वर्ष के बाद और साठ वर्ष के पूर्व घृत का सेवन किया जाय तो वह निरन्तर सेवन से सात्म्य हो जाता है। फलतः साठ वर्ष के बाद जब स्वभावतः शरीर क्षीण होता है तो सात्म्य हुआ घृत बल बढ़ाने में उतम रूप से सहायक नहीं होता इसलिए आचार्य ने बालक, वृद्ध इन दोनों के लिए ही घृत का सेवन हितकर बताया है। पुराण घृत विशेष रोगों में लाभकर होता है प्रतिदिन बल वर्धन के लिए नूतन घृत का ही प्रयोग किया जाता है पुराण घृत से तात्पर्य जितना अधिक पुराना घृत होता है उतना ही वह लाभकर होता है। पुराने घृत की परिभाषा निम्न रूप में बतायी है–

''उग्रगन्धंपुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम्। लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः।।''

सौ वर्ष के पुराने घृत का नाम 'कौम्भसर्पी बताया है जो अपस्मार, उन्माद आदि रोगों में अभ्यंग के लिए शिर पर मर्दन के लिए योनि रोगों में वस्ति के लिये प्रयोग में लाया जाता है किन्तु इसका प्रयोग अन्तः प्रयोग के लिए नहीं किया जाता है।

बल्याः किलाटपीयूषकूर्चिकामोरणादयः। शुक्रनिद्राकफकरा विष्टम्भिगुरूदोषलाः। गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे निन्दिते चाविसम्भवे।

अर्थ : किलाट, पीयूष, कुर्चिका, मोरड़ आदि दूध की विकृतियां शुक्र, निद्रा एवं कफ को उत्पन्न करता है, विष्टम्भी गुरू और दोषों को बढ़ाने वाले होते है। गौ के दुग्ध एवं घृत सभी दूध और घृतों में सर्वोतम होता है तथा भेड़ का दूध एवं घृत सभी दूध घृतो की अपेक्षा हीन गुण वाला होता है।

विश्लेषण : किलाट–दूध या दही को किसी नीबू आदि अम्ल रस को छोड़कर फट जाने पर गाढ़े भाग का नाम किलाट है जिसे छेना कहा जाता है। बचे हुए जल भाग का नाम मोरड़ या मोरट जिसे छेना का पानी कहा जाता है। पीयुष–तत्काल प्रसूता गौ आदि के दूध से बने हुए गाढ़े भाग का नाम पीयूष है जिसे फेनुस कहते है। कुर्चिका–दधि जमाने के लिए गरम किए हुए दूध जब फट जाता है तो द्रव और गाढ़े मिलित भाग का नाम कुर्चिका है अथवा दूध को पका कर मलाई बनाते है उसे कुर्चिका कह सकते हैं यह सभी गुरू होते हैं इसलिए विष्टम्भ पैदा करता है फलतः सभी वातादि दोषों को उत्पन्न करते हैं किन्तु ये बल वर्द्धक शुक्रवर्द्धक, कफ वर्द्धक और निद्रा को लाने वाले होते हैं।

अथेक्षुवर्गः।

इक्षोः सरो गुरूः स्निग्धो वृहणाः कफमूत्रकृत्। वृष्यः शीतो ऽस्रपितघ्नः स्वादुपाकरसो रसः।।

अर्थ : ईख का रस, गुरू, स्निग्ध, वृहण, कफ एवं मूत्र वर्धक शुक्रवर्धक शीतल, रक्तपित भोग नाशक विपाक एवं रस में मधुर होता है।

विश्लेषण : सामान्यतः सभी प्रकार के ईखके रस का गुण यहाँ बताया गया है, पर विभिन्न ईख का गुण भिन्न–भिन्न रूप से होता है यद्यपि प्राचीन काल में ईख के जितने भेद पाये जाते थे वे अब नहीं मिलते हैं उनके स्थान पर नये–नये ईख को उत्पन्न किया गया है वर्तमान में प्राप्त होने वाली ईखों

के रस में न पहले की तरह मधुरता है और न स्वाद है तथापि ईख जाति सामान्य होने से न्यूनादिक गुण उसमें पाये ही जाते हैं।

सो॰ग्रे सलवणों, दन्तपीडितः शर्करासमः। मूलाग्रजन्तुजग्धादिपीडनान्मलसङरात्। किञ्चित्कालं विधृत्या च विकृति याति यान्त्रिक। विदाही गुरूविष्टभी तेनासौ–
तत्र पौण्डूकः। शैत्यप्रसादमाधुर्यैर्वरस्तमनु वांशिकः। शतपर्वककान्तारनैपालाद्यास्ततः क्रमात्।
सक्षाराः सकषायाश्च सोष्णाः किञ्चिद्विदाहिनः।।

अर्थ : ईख का गुणः–सभी प्रकार के ईख के अग्रभाग में लवण रस रहता है। यदि दाँत से उनको चूसा जाय तो चीनी के समान गुण कारक होता है। विना साफ किये हुये ईख को मूल, अग्रभाग और गाठों में कृमिया वर्तमान रहती है या कृमियाँ गाठों को खायी रहती है ऐसे संपूर्ण ईख को यन्त्र में पेरकर रस निकाला जाय तो उसमें गन्देभाग मिले रहते हैं। यदि उसे तत्काल छान कर पी लिया जाय तो विशेष हानिकर नहीं होता है, किन्तु कुछ काल रखने के बाद यन्त्र से निकाला गया रस विकृत हो जाता है। और विदाही, गुरू, और विष्टम्भि होता है

ईख का भेद–(1) पौण्ड्रक–यह वीर्य में शीत मन में प्रसन्नता लाने वाला, रस में मधुर सभी ईखों में श्रेष्ठ होता है। (2) वांशिक–यह पौण्ड्क की अपेक्षा गुणों में हीन होता है।

(3) शातपर्व (4) कान्तार (5) नैपाल आदि ईख्वा क्रम से क्षार युक्त कषाय और उष्ण वीर्य होत हैं। और यह तीनों कुछ विदाह उत्पन्न करते हैं।

विश्लेषण : सभी प्रकार के ईख में अग्रभाग मे लवण रस मूल भाग में अधिक मधुर रस और मध्य में मधुर रस रहता है। जैसा कि सुश्रुत ने–

अतीव मधुरो मूले मध्ये मधुर एव च। अगै॰क्षिपु च विज्ञेर्य ईक्ष्णां लवणो रसः।।

ईख का सेवन यदि दाँत से चूसकर किया जाय तो उतम होता है। किन्तु यन्त्र के द्वारा उसका रस निकाला जाय तो वह उतम नहीं होता किन्तु ईख की भलीभांति सफाई कर तत्काल निकाला हुआ रस गुणकर होता है। फिर भी यदि उसे कुछ समय तक रखने के बाद पिया जाय तो विदाही गुरू, और विष्टम्मी होता है।

यदि बिना साफ किये हुये ईख से रस निकाला जाय तो विशेष हानिकर होता है।

पौण्ड्क आदि पाँच ईखों का वर्णन यहाँ किया गया है, पौण्ड्क ईख मोटे और किञ्ति पीले वर्ण के अधिक लम्बे होते हैं। वांसिक ईख वांस के समान अधिक गाठदार और पौण्ड्क से कुछ मोटे नीले वर्ण के होते है। शतपर्व में गांठे अधिक होती हैं और श्वेत वर्ण होते है। कान्तार ईख सामान्य मोटे और रस में कुछ कषैला होता है।

नैपाल–यह पहाड़ी प्रदेश में पाया जाता है। किन्तु वर्तमान समय में यह कोई भी ईख प्राप्त नहीं है। वर्तमान में जो ईख मिलता है उसमें अलग–अलग गुणों का वर्णन सम्भव नहीं है किन्तु सभी प्रकार के ईख में लवण अनुरस रूप में पाया जाता है।

फारिणतं गुर्वभिष्यन्दि चयकृन्मूत्रषोधनम्। नातिश्लेष्मकरो धौतः सृष्टमूत्रशकृदर् गुडः।
प्रभूतकृमिमज्जासृङ्मेदोमांसकफो•परः।।
हृद्यः पुराण, पथ्यश्च, नवः श्लेष्माग्निसादकृत्। वृष्याः क्षीरणक्षताहिता रक्तपितानिलापहाः। मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवतमाः।। तद्गुरगा तिक्तमधुरा कषाया यासशर्करा। दाहतृट्च्छदिमृच्छ़ासिृक्पितघ्न्यः सर्वशर्करा।
शर्करेक्षुविकाराएगां फारिगतं चवरावरे।

अर्थ : ईख से बनी हुई विकृतियों का गुणः (1) फाणित (राव) यह गुरू अभिष्यन्दि, त्रिदोष प्रकोपक, और मूत्र का शोधन अर्थात् वस्ति की शुद्धि करते हुये स्वच्छ रूप में मूत्र को निकालता है।

(2) धौत गुड़–सयंस्कार द्वारा रस के मल को दूर कर बनाया हुआ गुड़ अधिक मात्रा में कफ को नहीं बढ़ाता है अथति अल्पमात्रा में कफ कारक है। एवं मलमूत्र का निःसारक होता है। अधौत गुड़ साफ न कर बनाया हुआ गुड अधिक रूप में कृमि उत्पादक, मज्जा, रक्त, मेदा, मांस और कफ को बढ़ाने वाला होता है।

(3) पुरानागुड़–एक वर्ष के उपर का पुराना गुड़ हृदय के लिए हितकारी और पथ्य होता है। तथा नया गुड कफ का वर्धक और अग्नि को मन्द करने वाला होता है।
(4) मत्सयण्डिका– यह वृष्म (शुक्रवर्धक) क्षत से क्षीण के लिए हितकारी, रक्तदोष, पित और वात रोगनाशक होता है।
(5) खण्ड–(6) सिताः–यह इन्हीं उतम गुणों से युक्त होता है। तथा गुड़ से मस्यण्डिका और मत्सपण्डिका से खण्ड ओर खण्ड से सिता (मिश्री) का गुण उतम होता है।
(7) यास शर्कराः–यवासा से बनाई हुई चीनी में गुड़से बनाई हुई चीनी के गुण के समान ही गुण होता है विशेषकर तिक्त मधुर और कषाय रस से युक्त होता है। सभी प्रकार की चीनी दाह, तृष्णा, वमन, मूर्च्छा और रक्तपित्त रोग को दूर करती है। ईख से बनी हुयी विकृतियों में सबसे श्रेष्ठ शर्करा (चीनी या मिश्री) और फणित (राव) हीन गुण वाली होती है।

विश्लेषण : मूल द्रव्य ईख के रस से बनाया हुआ राव, गुड़, मत्स्यण्डिका, खण्ड, सिता इनके गुण का निर्देश किया गया है, ईख का रस पकाने पर जो घन पदार्थ बना है। और जितना ही अधिक निर्मल होता है उतने ही मधुर स्निन्ध, गुरू, शीतल और सरल होता है। यह सुश्रुत का मत है। फांणित गुड़ से बनने के पूर्व जो उसका फेन लिया जाता है उसे कहते हैं। इसे महिया भी कहते हैं। गुड़ पिण्ड रूप में हो जाने को कहते हैं। वही फेन कुछ दिन रखने के बाद जब उसमें दाने पड़ जाते है और वे दाने पृथक्–पृथक् प्रतीत होते है उसे मत्स्यण्डिका कहते हैं। समान्य भाषा में गुड़ से बनने से पूर्व लिए गये फेन और पतले भाग का नाम राव है। और वह तत्काल द्रव, पतला होते हुये कुछ दिन रखने पर दानेदार हो जाता है। और वह जब सूख जाता है तो उसे पीसकर खाड़ बनाया जाता है। उस खाड़ की सफाई कर सिता (चिनी) बनायी जाती है जो मलो को दूर करन` से श्वेत होती है। यदि चिनी की पकाकर पुनः उसे पिण्ड रूप में बनाया जाय तो उसे मिश्री कहते हैं इसे भी सिता कहते हैं। परन्तु वर्तमान समय में मिलों द्वारा ईख के रस को ही साफकर चीनी दानेदार बनाते है। इसलिए उतम साफ की हुई चीनी का गुण सर्वोतम माना जाता है और मिश्री के स्थान पर इसका प्रयोग भी किया जाता है। फाणित ईख के रस से गुड़ बनाने के पूर्व कुछ गन्दे भाग से निर्मित होता है इसलिए इसे गुण में न्यून माना गया है। इत

इक्षवर्गः अथ मधुवर्गः।

चक्षुष्यं छेदि तृट्श्लेष्मविषहिध्मास्त्रपितनुत्। मेहकुष्ठकृमिच्छर्दिश्वासकासातिसारजित । व्रणाशोधनसन्धानरोपणं वातलं मध।।
रूक्षं कषायमधुरं ततुल्या मधुशर्करा।

अर्थ : मधु का गुण–यह नेत्र के लिए हितकारी छेदी अर्थात् कफ को काटकर निकालने वाला प्यास कफ विषविकार हिक्का और रक्तपित रोग को नष्ट करता है। तथा प्रमेह कुष्ठ कृमि, वमन रोग श्वास, का स और अतिसार को दूर करता है। व्रण का शोधन, संघान और रोपण करता है। तथा वायुको बढ़ाता है। मधु रूक्ष, कषाय, और मधुर रस प्रधान होता है। मधु से बनायी गई चीनी मधु के समान गुण करने वाली होती है।

विश्लेषण : यहाँ सामान्यतः सभी प्रक ार के मधु क ा गुण बताया गया है मधुमखियों द्वारा संगृहीत होता है। मधुमक्खियां अनेक प्रकार की होती है जिसके भेद और उनसे संगृहित मधु का लक्षण और गुण भिन्न–भिन्न बनाया है। यथा–,

भ्रामर्र पैतिकं क्षौदं माक्षिकं तद्यथोतरम्। तत्स्यात् भ्रामरं शुक्लं घृत वर्ण तु पौ तिकम्।।
क्षौद्रतु कपिलं विद्यात् तैलाभं माक्षिकं मतम्।

अर्थ : से भ्रामर मधु श्वेत पैतिक मधु घृत के समान क्षौद्र मधु कपिल वर्ण और माक्षिक मधु तेल के समान वर्ण होता है। इनका गुण वर्णन करते हुये।

भ्रामरं तर्पणं स्वादु त्रिदोषं पैतिर्क बिदु। वरञ गुवेभिष्यन्दि क्षौद्रं रूक्षं मनाग्गुरू।। मक्षिकं लध्वपवनं मधुरं शस्यते व्रर्ण।

अर्थ : से भिन्न–भिन्न कार्यो में इनका प्रयोग बताया है। किन्तु यहाँ सामान्य गुण का ही निर्देश किया है। मधु नूतन गुरू, कफ कारक और स्वाद में मीठा होता है।

एक वर्ष का पुरान मधु लघु और कफ को नष्ट करने वाला कुछ कषाय होता है विशेषकर पुराने मधु का प्रयोग रोगों में करना चाहिए। नया मधु गुरू होने से विशेष कार्य नहीं करता तथा वर्ण शोधन, संधान, रोपण कार्य में नूतन मधु का ही प्रयोग करना चाहिए। अन्यत्र मधु को योग वाही परं मधु'' बताया है। आष्ङ संग्रह में कटुपाकीत्व गुरूत्व, शैत्य, बिपान्वयत्व, विरूद्धोपकमत्व और योगवाही मधु को बताया है। यह गुण प्राय, नवीन मधु में पाया जाता है। योगवाही का तात्पर्य जो द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिलकर अपने स्वभाव को छोड़ दे और मिलने वाले द्रव्य के गुण को ही लेकर कार्य करे उसे योगवाही कुछ लोग मानते हैं। पर यह मानने पर उसका प्रयोग करनार ही व्यर्थ है अतः योगवाही का तात्पय्र यह लिया जाता है कि जो द्रव्य अपने प्राकृतिक गुणों को न छोड़ते हुये दूसरे द्रव्यों के गुणों को बढ़ाने वाला हो उसे योगवाही माना जाता है।

विश्लेषण : जैसे नोकर अपने मालिक का कार्य सहायता उसको बल देते हुये अपना कार्य भी सम्पादन करता है। इसी प्रकार मिलने वाले द्रव्यों के शक्ति और गुण को बढ़ाते हुये अपना कार्य भी करता रहता है। किन्तु उसके गुणों के विपरीत अपने गुणों के द्वारा कुछ कार्य नहीं करता है। जैसे–हरडे ओर मधु एक साथ खाया जाय तो वह विरेचन को ही कराती है किन्तु अपने कषाय मधुर रूक्ष गुणों के कारण विरेचन को रोकती नहीं है। तथा मदन फल क्वाथ में मधु मिलाकर पीने से वह वमन ही कराता है किन्तु वमन को रोकता नहीं है। जो द्रव्य योगवाही नहीं होते हैं वे अपने गुण से विभिन्न द्रव्यों से संयुक्त होते है तो साथ ही शरीर में अपने–अपने गुणों को प्रकट करते हैं। जैसे– मदन फल और त्रिवृत दोंनों का एक साथ प्रयोग किया जाय तो मदन फल वमन और त्रिवत विरेचन यह दोनों एक साथ में करता है। परन्तु जो योगवाही द्रव्य होते हैं वे अपने से विभिन्न गुण वाले के साथ प्रयुक्त होने पर भी विरूद्ध गुण द्रव्य का ही कार्य करते हैं। योगवाही द्रव्यों में वायु को भी माना गया है जैसा कि

योगवाह परं वायु संयोगदुभयार्थ कृत्। उष्णकृत् ते जसा युक्त शीतकुल सोमसंश्रयात्।।

अर्थ : यद्यपि रूक्ष, लघु, खर, सूक्ष्म, चल गुण युक्त वायु तेज से अर्थात् सूर्य के ताप से संयुक्त होने पर उष्णता को बढ़ाता है परन्तु अपना सूक्ष्म, लघु, खर आदि गुणों की छोड़ता नहीं है अर्थात् उस उष्णता मे रूक्षता लघुता आदि गुण वर्तमान हीं रहता है। अपने शीत गुणों के कारण उष्णता में बाधक नहीं होता इसी प्रकार शीतल जल के संसर्ग पर वह शीतता को बढ़ाता है। किन्तु अपने रूक्षता के कारण शीत का उवरोध नहीं करता है। अतः योगवाही का अर्थ यही किया जाता है जो अपने गुणों के कारण संयुक्त होने वाले द्रव्यों के गुणों का अवरोध न करते हुये उसको बढ़ाता है किन्तु अपने गुणों को छोड़ता नहीं है। यदि अपने गुण को छोड़ देगा तो उसका प्रयोग ही व्यर्थ हो जायगा।

उष्णमुषार्तमुष्णेचयुक्तं चोष्णैनिहन्ति तत्। प्रच्छंर्दने निरूहे च मधू ष्णं न निर्वायते। अलब्धपाकमाश्वेव तयोर्पस्मान्निवर्तते।।

अर्थ : उष्ण मधु का सेवन निषेध–अग्नि पर गरम किया हुआ मधु, अग्नि या धूप में चलने से जिनका शरीर गर्मी से पीड़ित है। उन्हें, उष्ण काल (गर्मी के दिनों) में तथा उष्ण वीर्य वाले अथवा अग्नि से उष्ण द्रव्यों के साथ मधु का सेवन नहीं करना चाहिए, किन्तु वमन या निरूहवस्ति में उष्ण मधु का प्रयोग वर्जित नहीं है। क्योंकि वमन और निरूह में मधु शरीर के अन्दर बिना पचे हुये शीघ्र ही निकल जाता है।

विश्लेषण : मधु विभिन्न प्रकार के पुष्प रसों एवं विषैले पुष्पो के रस से भी निर्मित होता है, अतः वह उष्ण होता है, विष उष्ण द्रव्य के संयोग से या उष्ण करने पर या गर्मी से पीड़ित होने पर अपना वेग तीव्र रूप में प्रकट करता है। इसलिए उष्ण मधु का निषेध किया गया है। किन्तु वमन और निरूह द्रव्यों में मधु मिलाकर उसे गरम किया जाता है, पीने पर वह शीघ्र ही बाहर निकल जाता है, शरीर के भीतर वह रूकता नही है इस लिए उसका पाचन भी नहीं होता कोई भी द्रव्य पाचन होने पर ही हानि या लाभ करते है यहां मधु में विषका सम्बन्ध न दिखाते हुए केवल उष्ण वस्तुओं के संयोग से उसके सेवन का निषेध किया गया है। अष्टाङ संग्रह में विषके सम्बन्ध का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, यथा–

विषान्वयेन विष पुष्पेभ्यो९ यतो मधु कुर्वते ते स्वयं यच्च सवियाभ्रमरादयः। गुरू रूक्षे कवायत्वात् शैत्याच्चाल्पं हितंमधु।

नहि कष्टतमं किंवितदजीर्णाद्यतो नरम्। उपक्रम विरोधित्वात् सद्योहन्यात् यथा विषम्।

अर्थ : अर्थात् विष पुष्पों द्वारा भी मधु निर्भित होता है। और यदि मधुसेवन से अजीर्ण हो जाय तो उपक्रम विरोधि होने से विषके समान शीघ्र ही मृत्यु कारक होता है। अर्थात् अजीर्ण जन्य मधु का विष शरीर में उत्पन्न हो जाता है तो विष के शमन के लिए शीत पोर्यः द्रव्यों का प्रयोग होता है। यदि शीत वीर्य का प्रयोग किया जाय तो अग्निमन्द हो जाती है और अग्नि को तीव्र करने के लिए उष्ण द्रव्यों का प्रयोग किया ज ाय तो विषकी वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार शीत और उष्ण ये दो वीर्य वाली ही औषधियां होती है दोनों का प्रयोग ऐसी अवस्था में करना हानिकारक होता है अतः इसे विरूद्धोपक्र कहा गया है।

अथ तैलवर्गः।

तैलं स्वयोनिवतत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायिच। त्वग्दोषकृदक्षुष्यं सूक्ष्मोष्णं कफकन्न च।।

अर्थ : तैल विभिन्न तिल, सरसों, तिसी आदि अनेक द्रव्यों से निकाला जाता है। तिल आदि अनेक द्रव्यों से निकाला जाता है। तिल आदि द्रव्यों के जो गुण होते है वे उन तैलों में भी पाये जाते है। अर्थात् योनि (कारण) के अनु सार ही कार्य तेल होते हैं। उनमें मुख्य तिल का तेल होता है। वह तीक्ष्ण, व्यवायी, त्वचा के दोषों को दूर करने वाला नेत्र के लिए हानिकर, सूक्ष्म, उष्ण और कफ को नहीं बढ़ाता है।

विश्लेषण : तैल शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये 'तिलेषु तैलम्' अथवा तिलेभवः तैलम् यह क ी जाती है। इससे यह स्पष्ट है कि तिल का ही तेल होता है, इसलिए जहाँ–जहाँ तेल का निर्देश किया गया है वहाँ पर तिल का ही तेल लिया जाता है। सरसों आदि के स्नेह में उपचारात तैल शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि जिस प्रकार मसीन द्वारा तिलसे तेल निकाला जाता है। तेल अनेक द्रव्यों से विभिन्न प्रक्रियाओं द्वारा निकाला जाता है। जैसे–जौ कातेल, गेहू का तेल, वर्रे का तेल आदि इनसे या जिन द्रव्यों में स्नेहाशं अल्प मात्रा में होता है उससे पाताल यन्त्र द्वारा तेल निकाला जाता है वह भी स्निग्ध होता है इसलिए उन्हें भी तेल कहते है। उसे डढ़ूवा श ाब्द से कहा जाता है। मुख्य तेल त्वग्दोष कृत होता है इसका तात्पर्य त्वचा के दोषों को दूर करता है यहाँ डुक्रिय करणे धातु का प्रयोग न समझ कर कृति छेदने धातु का कृत यह शब्द मानना चाहिए। अथवा भक्षण से तेल त्वचाओं में दोष उत्पन्न करता है और मालिश करने से त्वचा के दोषों को दूर करता है। तेल ण्यायावी अर्थात् शीघ्र ही शरीर में फैलकर अपना गुण दोष करने वाला होता है। यह सुक्ष्म होता है इसलिए सूक्ष्म रोम कूपों में शीघ्र ही प्रवेश कर जाता है। यह कफ को नहीं बढ़ाता है इसका तात्पर्य यह कि स्निग्ध और उष्ण होते हुये न कफ को बढ़ाता है और न कम करता है अर्थात समान मात्रा में बनाये रखता है

कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्शनाय च। वद्धविट्कंकृमिघ्नं च संस्कारात्सर्वरोगजित्।।

अर्थः तेल कृश व्यक्तियों के लिए वृहण कार्य में तथा स्थूल व्यक्तियों के लिए कर्ष ण क्रिया करने में पूर्ण समर्थ होता है। अन्तः प्रयोग से मल को बांधता है और कृमिरोग को दूर करता है और जिस प्रकार के द्रव्यों से इसका संस्कार किया जाता है तो वह द्रव्य के गुण के अनुसार सभी रोगों को दूर करता है।

विश्लेषण : एक ही तेल के सेवन से कृश व्य क्ति मोटे और मोटे व्यक्ति कृश होते है। यह समझने में विपरीत प्रतीत होता है अतः इसे इस रूप में समझना चाहिए। कृश व्यक्तियों में वायु के बढ़ जाने से स्रोत शुष्क हो जाते है उनमें धातुओं का गमना गमन यथार्थ में न होने से मांस धातु की विशेष रूप से पुष्टि नही ं होती है तेल का मर्दन या अन्तः प्रयोग करने से बह सूक्ष्म गुण युक्त होने से अन्त प्रवेश कर अपने स्निग्ध गुण के कारण सूखे हुए श्रोतों से वायु को दूर करते हुये स्निग्ध बनाता है। श्रोतों का मार्ग खुल जाता है फलस्वरूप धातुओं का गमनागमन के समुचित होने से मांस पेशियां स्निग्ध एवं बलवान हो जाती है अतः कृश व्यक्ति मोटा हो जाता है।

स्थूल व्यक्तियों में कफ की अधिकता और पाचन की दुर्बलता के कारण बढ़ा हुआ कफ श्रोतो को अवरूद्ध कर देते है जिससे धातुओं का गमनागमन अवरूद्ध होकर केवल मेदा धातु की वृद्धि होती है। अतः मनुष्य मोटा हो जाता है। तेल अपने सूक्ष्म गुणों के कारण श्रोतो में प्रवेश कर जाता है उष्ण गुणों से अवरूद्ध

कफ को और मेदा को नष्टकर देता है कफ और मेदा के नष्ट होने पर श्रोतो का मार्ग खुल जाते है फलस्वरूप धातुओं का गभ नागमन समूचित रूप में होकर सभी धातुओं की पुष्टि समान रूप से होने लगती है अतः कफ मेदा के घटजाने से अतिस्थूल व्यक्तियों मे कृशता आ जाती है। जो व्यक्ति स्भाव से ही कृश है या स्वभाव से ही स्थूल है उन व्यक्तियों के लिए यहाँ निर्देश नही किया गया है किन्तु सम शरीर वाले व्यक्ति यदि कृशता और ऊतिस्थूलता से पीडित हो उन व्यक्तियों के लिए यह निर्देश किया गया है। घ्त की अपेक्षा तेल का गुण शरीर स्वास्थ्य के लिए अधिक माना गया है। पर मर्दन के लिए खाने के लिए नही जैसा कि–

घृतात्दशगुणं तैलं मर्दने पनतु भोजने।

इसी कारण अन्तः प्रयोग से तेल की वद्ध बिट्क्कहा गया है।

सतिक्तोषणमैरण्डं तैलं स्वादु सरं गुरू। वर्ध्मगुल्मानिलकफानुदरं विषमज्वरम्।।
रूक्शोकौच कटीगृह्यकोष्ठपृष्ठाश्रयों जयेत्। तीक्ष्णोंष्ण पिच्छिलं विस्त्रं रक्तैण्डौद्भवंत्वति।।

अर्थ : एरण्ड के तेल का गुण– एरण्ड का तेल कुछ तिक्त, उष्ण, मधुर, सा रक और गुरू होता है। वर्ध्य (अप्डकोष वृद्धि) गुल्म, वातकफ, उदररोग, विषमज्वर, को दूर करता है। तथा सभी प्रकार की शारीरिक वेदना और शोथ रोग को दूर करता है। कटि गुह्य प्रदेश , आमाशय आदि कोष्ठाश्रित वात और पीठ की अस्थियों में बढ़े हुए वायु को दूर करता है तथा रक्त एरण्ड का तेल अधिक रूप में तीक्ष्ण, उष्ण पिच्छिल और विस्त्र अर्थात् अप्रिय गन्ध वाला होता है।

विश्लेषण : सामान्यतः सभी तेल वायुको दूर करते है विशेषकर तिल का तेल। तिलका तेल ही मुख्य है उसके बाद वायु को दूर करने में एरण्ड तेल का स्थान है यद्यपि एरण्ड का तेल अधिक व्यवहार में नही आता पर वायु को दूर करने में इसका स्थान तिल के तैल से पहले आता है। जैसा कि–

आमवात गर्जनछस्य शरीर बचारीणः।
एकएव निहन्तायमेरण्ड स्नेहकेशरि।।

बताया गया है। और प्रथम अध्याय में भी वातनाशक में तेल की प्रधानता बतायी है यथा–

शरीरजानां दोष्णां क्रमेण परमोषधम्। वस्तिविरेको वमन तथा तैलं धृतं मधु।। कटूष्णं सार्षपं तीक्ष्णं कफशुक्रानिलापहम्। लघु पितास्त्रकृत् कोठकुष्ठाशंणजन्तुजित्।।
आक्षं स्वादु हिमं केश्यं गुरू पितानिलापहम। नात्युष्णं निम्बजं तिक्त कृमिकुष्ठकफप्रणुत्। उमाकुसुम्भजं चोष्णं त्वग्दोषकफपितकृत्।

अर्थ : सरसों के तेल का गुण–सरसों का तेल रस में कटु वीर्य में उष्ण, तीक्ष्ण कफ शुक्र और वायु को नष्ट करने वाला होता है। लघु, रक्तपित रोगकारक, कोठ, कुष्ठ, अर्श, व्रण और कृमि रोग को नष्ट करता है। बहेड़े के तेल का गुण–बहेड़े का तेल रस में स्वादु वीय में शीत, केश के लिए हितकारी गुरू पित एवं वायु को दूर करने वाला होता है। नीम के तेल का गुण–नीम के बीज का तेल अधिक उष्ण नहीं होता है अर्थात् कुछ उष्ण होता है। रसमें तिक्त कृमि, कुष्ठ और कफ को दूर करता है। तिसी और वर्रे के तेल का गुण–तिसी और वर्रे का तेल वीर्य में उष्ण और त्वचा में दोष, कफ और पित्त को करने वाले होते है।

विश्लेषण : विशेष व्यवहार में आने वाले कडु तेल का गुण लिखने के बाद चिकित्सा क्षेत्र में प्रायः प्रयुक्त होने वाले बहेड़े नीम के बीज, तिसी और बर्रे के तेल का गुण संक्षेप में बताया है। त्वचा के रोगों में जैसे दाद, खुजली में कड तेल का मालिश और अन्न प्रयोग में जैसे–साग, सब्जि में इसका अधिक प्रयोग होता है। अन्तः प्रयोग यदि अधिकरूप में किया जाय तो रक्त पित्त चकता कुष्ठ, अर्श एवं शरीर में व्रण उत्पन्न होते है। इससे विशेष कर शुक्र विकृत होता है, मालिश करने से कफ और वायु की शान्ति होती है।
बहेड़े की मज्जा से तेल निकाला जाता है–केश जब अकाल में पकने लगते हैं तो इसके लगाने से काले हो जाते है। नीम का तेल सभी प्रकार के फोड़े फुन्सी में लाभकर होता है, प्रायः तिसी और बर्रे का तेल सबसे हीन गुण होता है इसक अन्तः प्रयोग से त्वचाओं में विकृति कफ और पित्तकी वृद्धि होती है।

यदि त्वचा पर मालिश किया जाय तो त्वचाए विकृत और केश मलयुक्त हो जाते है। अतः इनका प्रयोग अल्प मात्रा में होता है।

वसा मज्जा च वातघ्नौ बलापितकफप्रदौ।। मांसानुगस्वरूपौ च विद्यान्मेदो ऽपि ताविव।

अर्थ : वसा मज्जा और मेदा का गुण–वसा और मज्जा यह दो नों वातनाशक, शारीरिक बल, पित्त एवं कफ को बढ़ाने वाले होते हैं तथा जिस प्राणी के वसा और मज्जा लिया जाता है उस प्राणी के मांस का जो भी गुण होता है वे सभी गुण उस प्राणी के वसा और मज्जा में पाये जाते हैं और मेदा का भी गुण वसा, मज्जा और प्राणी के मांस के गुण के समान गुण होता है।

विश्लेषण : यहाँ केवल 6 तैलों का वर्णन और स्नेह होने के कारण इसी वर्ग में वसा मज्जा और मेदा का भी गुण बताया गया है, वस्तुतः तेल अनेक द्रव्यों से पाया जाता है यथा–

दन्तोमूलक रक्षोघ्नकरज्जारिष्ट शिग्रुजम्। सुवर्चलेगहुदी पीलु शंखिनी नीसंभवम्।। सरलागुरूदेवाह्व शिशपासार जन्म च। तुवरारूष्करोत्थं च तीक्ष्णं कट्वम्लपितकृत।। अर्शकुष्ठ कृमिश्लेष्म शुक्रभेदा ऽनिलापहम्। करंज र्निवजे तिक्ते नात्युष्णे तत्र निदिशेत।।

कषाय तिक्त कटुकं सारलं व्रण शोधनम्। भृशोष्णतीक्ष्क्षेकटुके तुवरारूष्करोद्भवे।। विशेषातकृमि कुष्ठघ्ने तथार्ध्वाधो विरेचने। अक्षातिमुक्तकाक्षोट नालिकेरमधूकजम्।।

त्रपुसैर्वारू कूष्माज्डश्लेष्मातक पियालजम्। वातपित्तहरं वृष्यं, श्लेष्मलं गुरूशीतलम्।। पित्तश्लेष्म प्रशमनं श्रीपणीकिशुकोद्भवम्।

इस प्रकार विभिन्न प्रकार के तैलो में तिल का तेल उतम और बर्रे का तेल अधम माना गया है।

अथ मूत्रवर्गः

मूत्रं गो•जाविमहिषीगजाष्वोष्ट्र खरोद्भवम्। पितलं रूक्षतीक्ष्णों ष्ण लवणानुरसं कटु।।

कृमिशोफोदरानहशूलपाण्डुकफानिलान्। गुल्मारूचिवि षश्वित्रकुष्ठार्शासि जयेल्लघ।।

अर्थ : मूत्र का गुण–मूत्र शब्द से गो, बकरी, भेड़, भैंस, हथिनी, घोड़ी, ऊँट और गदहे का मूत्र लिया जाता है। सामान्यतः सभी प्रकार का मूत्र पित्तवर्द्धक, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, लवणानुरस, रसमें कटु एवं लघु होता है, तथा कृमि, शोथ, उदर, आनाह, शूल, पाण्डु, कफ एवं वातविकार तथा गुल्म अरूचि, विषवि कार, प्रवेत कुष्ठ और अर्श रोग को दूर करता है।

विश्लेषण : यहा आठ मूत्रों का निर्देश करते हुये केवल सामान्य रूप में मूत्रों का गुण बताया है किन्तु भिन्न–भिन्न मूत्र भिन्न–भिन्न रोगों में प्रयुक्त होते है जैसे–

गोमूत्रं कटुतीक्ष्णीष्णं सक्षारत्वा त्र वातलम्। लध्वाग्नि दीपनं मेध्यं पितलं कफ वातजित्।। शूल गुल्मोदरानाह विरेकास्थापनादिषु। मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत्।। दुर्नामोदर शूलेषु कुष्ठ मेहाविशुद्धिषु।

मूत्रप्रयोगसाध्येषु गव्यं मूत्रं प्रयोजयेत्।। दुर्नामोदर शूलेषु कुष्ठ मेहाविशुद्धिषु।

आनाह शीफ गुल्मेषु पाण्ड्रोग च माहिषम्।। कास श्वासापहं शोफ वर्चोग्रहे हितम्। सक्षारं तिक्त कटुकमुर्ष्ण वातघ्नमाविकम्।। दीपनं कटु तीक्ष्णोर्ष्ण वात चेतो विकारनुत्। आश्वं कफ हरं मूत्रं कृमिदद्रुषु शस्यते।। सर्तिक्तं लवणं भेदि वातघ्नं पित्त कोपनम्।

तीक्ष्णं क्षारं किलासे च नाम मूत्र प्रयोजयेत।।

गरचेतो विकारघ्नं तीक्ष्णं ग्रहणी रोगनुत्। दीपनं गार्दभं मूत्रं कृमिवात कफापहम्।। शीप कुष्ठोदरोन्माद मारूत क्रिमिनाशनम्। अर्शोघ्नं कारभं मूत्रं मानुष च विषापहम्।।

अर्थ : चरन ने भी वागभट्ट की तरह आठ मूत्र का ही निर्देश किया है पर सुश्रुत ने भैंस के स्थान पर मनुष्य मूत्र का निर्देश किया है। प्रायः सामान्य रूप से मनुष्य के मूत्र का प्रयोग नहीं होता है पर जंगम और स्थावर विष में अन्तः प्रयोग और बाहय प्रयोग में विशेष लाभकर होता है। औश्र यह अनेकों बार अनुभुत है। सर्प विष में तबतक नरमूत्र पिलाया जाता है जब तक विष पीडित व्यक्ति को स्वाद प्रतीत नहीं होता स्वाद प्रतीत होने पर पिलाना बन्द कर देते है। बिच्छू के काटने पर एक कप मूत्र पिलाने से ही तत्काल लाभ होता है। वर्रे, मधुमक्खी आदि

के काटने पर दंश स्थान पर मालिस करने से लाभ होता है। नर मूत्र प्रयोग में आजकल कैन्सर जैसे भयंकर रोग में लाभ देखा जाता है। चरक ने नरमूत्र को रसायन माना है। जैसा कि–

नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद्रसायनम्।

अर्थ : कहा गया है। प्राचीन काल में नरमूत्र का प्रयोग रोग शान्ति के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता था केवल नरमूत्र से सभी रोग की चिकित्सा एक शिवाम्बुकल्प नामक पुस्तक में लिखा गया है यद्यपि पुस्तक अप्राप्य है। तथापि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन पुस्तकालय के हस्त लिखित ग्रन्थों में बंगला लिपी में लिखा हुआ वर्तमान है। बम्बई से प्रकाशित स्वमूत्र चिकित्सा ग्रन्थ के अन्तिम भाग में इस पुस्तक का प्रकाशन भी हो चुका है। इसे रसायन मानते हुये चरक और वाग्भट्ट ने सामान्य मूत्र वर्ग में मनुष्य मूत्र का विवेचन नहीं किया है।

षष्टम् अध्याय

अन्न द्रव्यों का ज्ञान

अथातोऽन्नस्वरूपविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।

इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अर्थ : अब द्रव द्रव्य की व्याख्या के बाद अन्न स्वरूप विज्ञानीय अध्याय की व्याख्या की जायेगी।

विश्लेषण : इस अध्याय में अन्न द्रव्य का स्वरूप जैसे– अन्न द्रव्यों में स्थित रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, गुण और कर्म आदि की भी व्याख्या की जायेगी। यद्यपि अन्न द्रव्य का प्रयोग यहाँ लिखना उचित था किन्तु द्रव्य शब्द का प्रयोग न कर स्वरूप शब्द से अन्न और रस, वीर्य आदि का ग्रहण तथा स्थावर, जंगम आहार इन दोनों का स्वरूप यहां बताया जायेगा।

अन्न का तात्पर्य *'अद्यते यत् तत् अन्ने' अदू भक्षणे धातुः अदादिः।* इस प्रकार ठोस आहार द्रव्य सामान्यतः धान्य वर्ग ही लिया जाता है। शुकधान्य और शिम्बी धान्य भेद से दो प्रकार का धान्य होता है। उनका वर्णन और इन धान्यों से निर्मित पेया–मण्ड आदि तथा अन्य शाकवर्ग, फलवर्ग, लवणवर्ग, अन्य उपयोगी औषधियों का वर्णन किया गया है।

अथ शूकधान्यवर्गः।

रक्तो महान् सकलमस्तूर्णकः शकुनाहृतः। सारमुखो दीर्घशूको रोध्रशूकः सुगन्धिकः।। पुण्ड्रः पाण्डुः पुण्डरीकश्चः प्रमोदो गौरशालयः। काच्चनो महिषः शूको दूषकः कुसुमाण्डकः।। जागंलो लोहवासाख्या कर्दमा शीतभोरूका पतंगास्तपनीयाश्च ये चान्ये शालय शुभाः।। स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पर्चस। कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमा।।

अर्थ : शुकधान्यो में लाल चावल, महाशालि, कलमी, (जो धान्य उखाड़कर पुनः लगाये जाते हैं), तूर्णक शकुनाहृत, सारमुख, दीर्घशूक, रोध्रशूक, सुगंधक पुण्डू पाण्डु पुण्डरीक, प्रमोद, गौरशालि, काचन, महिष, शूक, दूषक, कुसुमाण्डक जागंल, लौहवास, कर्दम, शीतभिरूक, पंतग, तपनीय आदि और अन्य जो धान्य होते हैं वे रस और विपाक में मधुर, स्निग्ध, वृष्य और मल को गाँठदार बनाने वाले और अल्पमात्रा में करने वाले होते हैं। ये सभी चावल, कषायअनुरस पथ्य, लघु मूत्रल और शीतल होते हैं।

विश्लेषण : ये सभी धान के चावल का भेद हैं। ग्रंन्थक ार के समय में धान के ये भेद प्रचलित रहे होगे इसलिये इन सभी धानों का उल्लेख किया गया है। अब इस प्रकार के ध ान नहीं मिलते पर सामान्य गुणों का जो यहां निर्देश किया गया है वहे सभी गुण इस समय भी चावलों में पाये जाते है। यहां रस और विपाक में चावल को मधुर माना है। चावलों में लाल चावल जिसे ब्रीहि कहा जाता है, चरक ऋषि ने इसे अम्लविपाकी माना है। यथा—मधुरश्चाम्ल पाकश्च व्रीहिः पित्तकरी गुरू, (च, सू, अ. 27/15) व्रीहि लाल चावल को कहते हैं। यह शूकधान्यों में सबसे उत्तम होता है इसका विपाक अम्ल होता है और प्रत्यक्ष रूप में इसका प्रयोग यदि अम्लपित्त में किया जाता है तो हानिकर होता है अन्तर्दाह में भी हानिकर होता है। इसलिए सामान्यतः स्वादु पिपाक चावल का होना उचित नहीं प्रतीत होता है अतः इसे अम्ल विपाक ही मानना चाहिए। सामान्यावस्था में कही रस कही विपाक के द्वारा चावल कार्यकर होते है। प्रमेह रोग में चावल मधुर रस और विपाक में मधुर होने से प्रमेह रोग का उत्पादक होता है। अम्लपित्त, रक्तपित्त, दाह रोग को चावल अम्ल विपाक होने से उत्पन्न करता है तथा अनुपशय होता है।

शूकजेषु वरस्तत्र रक्तस्तृष्णात्रिदोषहा।

अर्थ : शूक वर्गों में रक्त चावल उत्तम होता है और तृष्णा रोग एवं और त्रिदोष को दूर करता है।

महांस्तमनु कलमस्तं चाप्यनु ततः परे।।

अर्थ : चावलों में ऊपर बताये गये रक्त चावल से महान और महान चावल से कलम तथा जिस क्रम से ऊपर शूक धान्यों का वर्णन किया गया है उतरोत्तर वे गुण में हीन होते हैं।

विश्लेषण : शूकधान्यों का निरूपण करते हुए पूर्व चावल के गुणों को श्रेष्ठ बताया है और उसमें सबसे उत्तम लाल चावल और सबसे हीन तपनीय का गुण बताया है यह अष्टांगहृदय का क्रम है। अल्प ग्रन्थों में इस क्रम का निर्देश नहीं पाया जाता क्योंकि भिन्न—भिन्न क्रम का उल्लेख किया गया है।

प्रायः यह चावल भूमि और देश के अनुसार कार्यकर होते है। प्रायः इन चावलें के नामों में भी भिन्नता पायी जाती है इसका भी कारण यही हो सकता है कि भिन्न—भिन्न आचार्य भिन्न—भिन्न देश काल में उत्पन्न हुए अपने देशानुसार चावलों के गुणों का निर्देश अपने अपने ग्रन्थों में किया है, परन्तु सभी आचार्यों ने लाल चावल को सर्व श्रेष्ठ माना है।

यवका हायनाः पांसुबाष्पनैषधकादयः। स्वादूष्णागुरवः स्निग्धाः पाके •म्लाः श्लेष्मपित्तलाः।। सृष्टमूत्रपुरीषा पूर्व पूर्व च निन्दिताः।

अर्थ : यवक, हायन, पांशुवाष्प, नैषधक ये चावल रस में स्वादु गुण में उष्ण, गुरू, स्निग्ध, विपाक में अम्ल कफ और पित्त को बढ़ाने व ाले होते हैं। ये चावल मल—मूत्र को सुखपूर्वक निकालने वाले और पूर्व—पूर्व गुणों में हीन होते हैं।

स्निग्धो ग्राही लघुः स्वादुस्त्रिदोषघ्नः स्थिरो हिमः। षष्टिको व्रीहिषु श्रेष्ठो गोरश्चासित गौरतः।।

अर्थ : साठी का चावल दो तरह का होता है गौर (रक्त) और कृष्णा गौर। इनमें कृष्ण गौर से गौर साठी का चावल सभी ब्रीहि धान्यों में उत्तम होता है और गुण में स्निन्ध, ग्राही लघु, स्थिर, और रस में स्वादु एवं त्रिदोषनाशक और शीतल होता है।

विश्लेषण : शाठी का चावल सभी शूक धान्यों में उत्तम होता है। इसे ही रक्त शालि भी कहा जाता है। यह शरीर में स्थिरता लाता है। और वृष्य (वृष्य का अर्थ शुक्रवर्धक) भी हैं। चरक ने भी वृष्य प्रकरण में शाठी के चावल के भात और उरद के दाल का सेवन वृष्य माना है।

माषयूषेण यो भुक्ते घृताढयं षष्टिकौदनम्।
पयः पिवति रात्रि स कृत्स्नां जागर्तित वेगवान्।।
ततः क्रमान्महाव्रीहिकृष्णव्रीहिजतूमुखाः। कुक्कुटाण्डकलावाख्यपारावतकशूकराः।।
वरकोद्दालकोज्ज्वालचीनशारददर्दुराः।
गन्धनाः कुरूविन्दाश्च गुणैरल्पान्तराः स्मृताः।।

अर्थ : इसके बाद क्रम से महाब्रीहि से कृष्णब्रीहि उससे जतुमुख उसमें कुकुटाण्डक उससे लाव, उससे परावतक, उससे शूकर, उससे वरक, उससे उदालक, उससे उज्वाल, उससे चीन, उससे शारद, उससे दुर्दुर, उससे गन्धन और उससे कुरविन्द नामक चावल क्रमशः गुण में हीन होते हैं।

स्वादुरम्लविपाको•न्यो व्रीहिः पित्तकरो गुरूः।। बहुमूत्रपुरीषोष्मा, त्रिदोषस्त्वेव पाटलः।

अर्थ : इन साठी आदि चावलों की अपेक्षा ब्रीहि (चावल) रस में स्वादु एवं विपाक में अम्ल होता है और पित्त उत्पादक गुरू अधिक मात्रा में मल और मूत्र में उष्णता लाने वाला होता है और पाटल नामक चावल त्रिदोष कोपक है।

विश्लेषण : ये सभी धान तथा इसका चावल व्रीहि धान्य नाम से कहे जाते हैं। प्रायः शाली धान्य या व्रीहि धान्य एक ही है, पर शालि धान से वे लिए जाते हैं जो अधिक जल प्राप्त होने पर फलने और पकने वाले होते हैं और वे हेमन्त ऋतु अगहन में पकते हैं जिसे अगहनी धान कहते है।

2. शाठी का चावल–यह आश्विन में पक जाते है इनका जमना और पकना साठ दिन में हो जाता है। व्रीहि उसे कहते है जो शरद् ऋतु (आश्विन) में पक जाता है किन्तु ये सभी धान्य वर्षा ऋतु में बोये जाते है परन्तु इनके पकने और काटने का समय भिन्न– भिन्न होता है। धान्यों का अनेक नाम यहां दिये गये है। इस नाम से वतर्तमान समय में धान नहीं प्राप्त होते है और इन सभी धानो ं का गुण एवं लक्षण भिन्न–भिन्न रूप में पाया जाता है।

कगगुकोद्रवनीवारश्यामाकादि हिमं लघु। तृणाधान्यं पवनकृल्लेखनं कफपित्तह्त्।।

अर्थ : तृणधान्य–कंगु (कगुनी) कोदव (कोदो), निवार (तिन्नी का चावल) सावा आदि धान्यों को तृण धान्य कहा जाता है। यह गुण में शीतल, लघु, वातकारक, लेखन और कफ पित्तनाशक हैं।

विश्लेषण : इन्हें कुधान्य या क्षुद्रधान्य भी कहा जाता है। इनके चावल से भात बना या जाता है और शाली व्रीहि और शाठी के तरह इसमें छिलके नहीं होते है और न इनके पकने में अधिक समय लगता है।

भग्नसन्धानकृतत्र प्रियगगुंबृहणी गुरूः। कोरदूषः परं ग्राही स्पर्शे शीतो विषापहः। उद्दालकस्तु वीर्योष्णो नीवारः श्लेष्म वर्धनः। श्यामाकः शोषणो रूक्षो वातलः पित्तश्जंष्महा।
रूक्षः शीतो गुरूः स्वादुः सरो विगवातकृद्यवः।। वृष्यः स्थैर्यकरो मूत्रमेदः पित्तकफाज्जयेत्।
पीनसश्वासकासोरूस्तम्भकण्ठत्वगामायान्।। न्यूनो यवादनुयवः–रूक्षोणो वंशजो यवः।
वृष्यः शीतो गुरूः स्निग्धों जीवनों वातपितहा।। सन्धानकारी मधुरो गोधूमः स्थैर्यवृत्सर।। पथ्या नन्दीमुखी शीता कषायमधुरा लघुः।

अर्थ : कंगुनी आदि धान्यों के गुण–इसे प्रियंगु भी कहा जाता है यह टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला बलवर्द्धक और गुरू होता है।

कोदो–यह विशेष रूप से ग्राही स्पर्श अर्थात लेप में शीतल और विषजन्य विकार को दूर करता है। उद्दालक–यह वीर्य में उष्ण, निवार (तिन्नी का चावल) कफवर्द्धक, सावा–शोषक, रूक्ष, वातवर्द्धक, श्लेष्म पित्त को दूर करने वाला होता है। जौ–रूक्ष, शीतल, गुरू, स्वादु, भेदक, मल और वात दोष को बढ़ाने वाला है। यह शुक्र उत्पादक, शरीर को स्थिर करने वाला, मूत्र, मेदा, पित्त और कफ को दूर करने वाला होता है तथा पीनस, श्वास, कास उरूस्तम्भ कण्ठ के रोग एवं त्वचा के रोग ों को दूर करने वाला होता है। अनुयव, (जई, धोड़जई) यह जौ से कुछ गुणों में ह ीन होता है, (घोड़ों के खिलाने के इसका विशेष प्रयोग होता है।)
बाँस का जौ–यह रूक्ष और वीर्य में उष्ण होता है। (कठवॉस फलते है और उनके जौ का नाम वंशभव होता है यह उष्ण और परम रूक्ष होता है। इसका प्रयोग प्रमेह मेदोवृद्धि और शा`थ रोग में अधिक किया जाता है।)
गेहूँ–यह शुक्रवर्द्धक, शीतल, गुरू, स्निग्ध और जौवनीय शक्ति को ब ढ़ाने वाला, वात और पित्तनाशक, टूटे हुए अंगों को संधान करने वाला, मधुर, अंगों को स्थिर करने वाला और भेदक होता है। नान्दीमुखौ–यह हितकर वीर्य में श ीत, कषैला मधुर एवं लघु होता है। (यह गेहूँ का भेद है जिनमें टूड़ नहीं होता है।) इति शूक धान्य वर्ग।

अथ शिम्बीधान्यवर्गः।

मृद्गाढकीमसूरादि शिम्बीधान्यं विबन्धकृत्।। कषायं स्वादु संग्राहि कटुपाकं हिमं लधु। मेदः श्लेष्मास्रपित्तेषु हितं लेपोपसेकयोः।।

अर्थ : मूँग, अरहर, मसूर आदि सभी शिम्बी धान्य स्रोतों का विवन्ध कारक होता है। अर्थात् इससे स्रोत बँधे हुए प्रतीत होते हैं। रस में कषाय, स्वादु, ग्राही विपाक में कटु वीर्य में शीत और हल्के होते हैं। मेदोजन्य विकार में कफजन्य रोगों में रक्तपित में लेप और परिषेक में हितकारी होते हैं।
विश्लेषण : शिम्बी धान्य से छेमी वाले सभी दाल वर्ग के मसूर, चना, केसारी, कुलथी आदि सभी का ग्रहण होता है, इसका अन्तः प्रयोग स्रोतों का विबग्ध कारक आदि गुण होता है। और मेदा और कफ जन्य विकार में इसे पीसकर गरम कर लेप लगाया जाता है और इसका क्वाथ (काढ़ा) बनाकर उससे परिषेक अर्थात उन–उन अंगों पर ऊपर से जल गिराकर सेक किया जाता है। चरक ने 'पितश्लेष्मणि शस्यन्ते सूपेष्वालेपनेषु'' अष्टागंसंग्रह में 'शिम्भीभवं धान्य विबन्कृत् वातावरोधकृत् लेपोपसेक योः प्रयुक्त मेदः प्रभृतिषु हितम्' इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि मेदा विकार श्लेष्मविकार, रक्त विकार और पित्त विकार में लेप और परिषेक में इसका प्रयोग होता है और यह देखा जाता है कि जब व्रण आमावस्था में होता है तो अरहर, की, दाल, पीसकर गर्म कर लेप लगाने से व्रण बैठ जाता है। और यदि व्रण पाकोन्मुख हो पक गया हो तो दाल को पीसकर गर्म लेप करने से व्रण फुट जात है और सभी पूय बाहर निकल आता है। यदि किसी अंग विशेष में दाह होता है, उसपर दाल का गर्म पानी लगा देने से दाह की शान्ति होती है, दाल की अनेक जातियां होती हैं यहाँ सामान्नतः सभी दालों के गुण वर्णन किये गये है और पृथक्–पृथक् वर्णन आगे करेगें।

वरो९त्र मुद्गा९ल्पचलः, कलायस्त्वतिवातलः।। राजमोषा९निलकरो रूक्षो बहुशकृद्गुरू।

अर्थ : इन सभी शिम्बी धान्यों में मूँग गुण में उत्तम होता है और अल्ममात्रा में वायु (वात) को बढ़ाने वाला होता है। कलाय (मटर) यह अधिक रूप में वातवर्द्धक है। राजमाष (सेम का बीज या बोड़ा का बीज) यह वातवर्द्धक रूक्ष, गुरू क्षौर इसके सेवन से पुरीषोत्यत्ति ज्यादा होती है।
विश्लेषण : तात्पर्य यह है कि दालों में मूंग का दाल उत्तम होता है। और मटर का दाल विशेष हानिकर होता है। अष्टांग संग्रह में ' *सूप्यानामुतमामुद्गाः लघीयासों ९ल्पमारूताः' हरितास्ते ष्वपि वरामकु ष्ठा कृमिकारिणः। पितास्रकृमि जिन्मुद्गो लघू संग्रहणात्मकः। व्रणूयापरं प्रलेपाद्यैर्मसूरा ग्राहिणो भृशम्।।* से सामान्य मूंग से हरे मूंग का गुण अधिक बताया गया है और पितज, रक्तज, रोग और कृमि रोग नाशक और ग्राही होता है मसूर का दाल का लेप लगाने से व्रण अच्छे होते हैं और सभी दालों में मसूर का दाल मल को रोकने वाला होता है।

उष्णाः कुलत्थाः पाकेऽम्लाः शुक्राश्मश्वासपीनसान्। कासार्शःकफवातांश्च घ्नन्ति पितास्रदाः परम्।

अर्थ : कुलथी वीर्य में उष्ण विपाक में अम्ल शुक्राश्मरी श्वास, पीनस, कास, अर्श और कफवातजन्य रोगों को दूर करती है अधिक रूप में रक्त और पित्त को बढ़ाने वाली होती है।

विश्लेषण : अष्टांग संग्रह में कुलथी को कषाय मधुर, रूक्ष, माना है यह कषाय और मधुर होने से रक्त और पित को बढ़ाने वाली तथा उष्ण वीर्य होने से दृष्टिनाशक होती है, शुक्राश्मरी अथवा सामान्य सभी प्रकार के अश्मरी (पथरी) रोग नाशक होती है प्रतिदिन इसके दाल का सेवन अथचा चूर्ण बनाकर दूध के साथ या गरम जल से लेने से अश्मरी रोग में विशेष लाभ होता है।

निष्पावो वातपित्तास्रस्तन्यमूत्रकरो गुरूः।। सरो विदाही दृक्शुक्रकफशोफविषापहः।

अर्थ : सेम का बीज वात, पित्त, रक्त, दुग्ध और मूत्र का वर्द्धक है गुरू, भेदक और विदाही होता है एवं दृष्टि, शुक्र, कफ एवं शेथ रोग और विष विकार को दूर करता है।

विश्लेषण : यद्यपि इसका विपाक अम्ल होता है जिसका उल्लेख यहां नहीं किया गया है उसका ग्रहण विदाही शब्द से हो जाता है चरक ने इसका प्रयोग उदावर्त रोग में उत्तम माना है।

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपितकरः सरः। गुरूणोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्।।

अर्थ : उड़द या उरद–यह स्निग्ध बलवर्द्धक तथा कफ, पुरीष और पित्त का वर्द्धक होता है, भेदक, गुरू, उष्णवीर्य, वातनाशक रस में मधुर, शुक्रवर्द्धक और शुक्र को निकालने वाला होता है।

फलानि माषवद्विद्यात्काकाण्डोलात्मगुप्तयोः।।

अर्थ : काकण्डोला और केंवाच के फलों का गुण उरद के समान समझना चाहिये।

विश्लेषण : केंवाच दो प्रकार का होता है। (1) में शूक नहीं होता है–अर्थात् उसके लगने से शरीर में खुजुली नहीं होती है और दूसरे के स्पर्श से खजुली होती है। जिसके स्पर्श से खुजुली नहीं होती है उसे काकाण्डोला कहते है और जिसके स्पर्श से खुजुली होती है, उसे आत्मगुप्ता कहते हैं।

उष्णस्त्वच्यों हिमः स्पर्शे केश्यो बल्यस्तिलो गुरूः। अल्पमूत्र कटुः पाके मेधाग्निकफपितकृत्।।

अर्थ : तिल वीर्य में उष्ण त्वचा के लिए लाभकर स्पर्श में शीतल बालों के लिए हितकर, बलवर्द्धक और गुरू होता है, अल्पमात्रा में मूत्रनिःसारक, यह पाक में कटु स्मरणशक्ति जठराग्नि, कफ एवं पित को करने वाला होता है।

विश्लेषण : यह कृष्ण और श्वेत भेद से दो तरह का होता है काला तिल गुण में उतम और श्वेत तिल गुण में अधम होता है, यहां तिल का अन्तः प्रयोग अथवा बाहय प्रयोग का गुण निर्देश किया गया है।

तैल वर्गो में सभी से उतम गुण तिल का होता है, यह कफ और पित को बढ़ाता है इस वचन से वातनाशक, तिल का गुण स्पष्ट हो जाता है, इसका विशेष प्रयोग तेल के रूप में होता है किन्तु अन्तः प्रयोग भी तिल का होता है यह रसायन और शुक्रवर्धक भी होता है। इसका प्रयोग प्रतिदिन करने से नेत्रविकार नहीं होते हैं और निरन्तर सेवन से बल की वृद्धि होती है। यह उष्ण वीर्य होता हैं इसलिये स्त्रियों के बन्द आर्तव को चालू करता है सुश्रुत ने तिल को विपाक में मधुर माना है जैसा कि–

'तिक्त विपाके मधुरो वर्लिष्टःस्निग्धो व्रणे लेपन एव पथ्यः।

और यहां विपाक में कटु माना गया है यह विरूद्ध वचन पाया जाता है इसका तात्पर्य यह है कि तिल रस में मधुर होता है इसका निर्देश यहां नहीं है, सुश्रुत ने रस और विपाक में इसे मधुर माना है और मधुर होने से शुक्रवर्द्धक बताया है और तिल का सेवन पित को उष्ण होने से बढ़ाता है, इस वात को देखकर कटु विपाक यहां माना गया है।

स्निग्धोमास्वादुतिक्तोणा कफपित्तकरी गुरूः।। दृक्शुक्रहृत्कटुः पाके, तद्वद् बीजं कुसुम्भजम्।

अर्थ : उमा (तीसी, अलसी) यह रस में मधुर और तिक्त वीर्य में उष्ण होता है तथा कफ एवं पित को बढ़ाता है और गुरू होता है। कुसुम्भ–(वर्रे) का बीज दृष्टि और शुक्र का नाशक विपाक में कटु होता है।

माषा९त्र सर्व्रेष्ववरो यवकः शूकजेषु च।

अर्थ : शिम्बी धान्यों में सबसे हीन गुण उरद और शूक धान्यों में सबसे हीन गुण यवक (घोड़ जई) होता है।

विश्लेषण : यहां तिल, तीसी और बर्रे के बीजों का गुण बताया गया है क्योंकि इन्हें शिम्बी धान्य में पढ़ा है, और इनके बीजों का अन्तः प्रयोग किया जाता है, इसलिये तैलवर्ग में बताए गये एरण्ड, सरसों आदि का उल्लेख नहीं किया गया है।

इति शिम्बी धान्य वर्ग।

नवं धान्युमभिष्यन्दि, लघु संवत्सरोषितम्।। लघु वर्षोपिर्त दग्धभूमिजं स्थलसम्भवम्। शीघ्रजन्म तथा सूप्यं निस्तुषं युक्तिभजितम्।।

अर्थ : सभी शुक धान्य और शमी धान्य जब तक नूतन रहते हैं तब तक अभिष्यन्दि अर्थात् कफ को बढ़ाने वाले होते है और एक वर्ष के बाद पुराने होने पर लघु अर्थात् कफोत्पादक नहीं होते हैं एक वर्ष का पुराना, जली हुई भूमि में उत्पन्न और शुष्क भूमि में उत्पन्न धान्य लघु होते हैं जिन धान्यों की उत्पति अल्प सम य में होती है, वह भी लघु होते हैं और यदि धान्यों के भूसी को निकाल कर युक्ति पूर्वक हल्के रूप में भूंज लिया जाता है तो वह अधिक हल्का हो जाता है।

विश्लेषण : सामान्यतः सभी नये धान्य गुरू कफ वर्धक और स्वादु होते हैं किन्तु जब वह पुराने हो जाते हैं ता ` हल्के और पथय होते है, एक वर्ष के पुराने धान्यों में वे सभी गुण वर्तमान रहते हैं जो नये धान्यों में होते हैं और वह जितना ही अधिक पुराने होते जाते हैं उतने ही अधिक हल्के हो जाते हैं पर नये धान्यों में रहने वाले गुण भी न्यून हो जाते है, जैसे बताया है–

'धान्यं सर्व नवं स्वादु गुरू श्लेष्मकरं स्मृतम्। ततु वर्षोवितं पथ्यं यतो लघुतरं हितत्।। वर्षोषितं सर्वधान्यं गौरवं परिमृचति।

न तु त्यजति वीर्यं स्व क्रमान् मुचत्यतः परम्।

अर्थ : अर्थात् पुराने होने पर स्निग्धता कम होता जाता है अतः सभी धान्य रूक्ष और हल्का हो जाता है अतः सुपाच्य एवं पथ्य होता है।

अथ कृतान्न (पक्वान्न) वर्गः मण्डपेयाविलेपोनामोदनस्य च लाघवम्। तृड्ग्लानिदोषशेषघ्नः पाचनोधातुसाम्यकृत्।। स्रोतोमार्दवकृत्स्वेदो सन्धुक्षयति चानलम्।

अर्थ : ऊपर शिम्बी धान्य के गुण का निर्देश किया गया है। अब कृतान्न वर्ग का निर्देश करते हुये यह बताया गया है–मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन (भात) इनमें पूर्व–पूर्व संस्कारित अन्न लघु होते हैं। इनमें
मण्ड सर्वश्रेष्ठ वात को अनुलोमन करने वाला, प्यास ग्लानि और वमन विरेचन से शेष दोषों को नष्ट करने वाला, पाचन धातुओं को साम्य करने वाला, श्रोतों को मृदु बनाने वाला, स्वेद (पसीना लाने वाला और अग्नि न को तीव्र करने वाला होता है।)

विश्लेषण : मण्ड, पेया, विलेपीमह धान के लाजा से निर्मित होता है। यह अर्थ ओदन शब्द को अलग पाठ करने से समझा जाता है। मण्ड, पेया विलेपी इनका समास कर एक में पढ़ा गया है। ओदन को अलग कर एक वचन का रूप दिया गया है। मण्ड, पेया, विलेपी की परिभाषा–

सिक्थैविरहितो मण्डः पेया सिक्थ समन्विताः।

धन सिक्था विलेपी स्यात् यवागू विरलद्रवा।।

अर्थ : से धान की लावा को 6 गुने जल में पकाकर कपड़े से छानकर लेने का नाम मण्ड और बिना छाने हुये लेने का नाम पेया। तथा गाढे रूप में बनाने का नाम विलेपी है। इनमें सबसे लघु मण्ड, उससे गुरू पेया, उससे गुरू विलेपी, और उनसे गुरू भात होता है। यही कारण है कि वमन और विरेचन के बाद अत्यधिक अग्नि के मन्द होने पर मण्ड, पेया, विलेपी का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि वमन–विरेचन के बाद मण्ड का विधान नहीं किया गया है फिर भी अत्यन्त लघु होने के कारण इसका प्रयोग किया जाता है।

क्षुतृष्णाग्लानिदौर्बल्यकुक्षिरोगज्वरापहा। मलानुलोमनी पथ्या पेया दीपनपाचनी।।

अर्थ : पेया का गुण–पेया क्षुधा और प्यास से उत्पन्न ग्लानि दुर्बलता तथा उदर के रोग और ज्वर को दूर करती है। मलों का अर्थात् विकृत वात, पित, कफ एवं मल–मूत्र स्वेद का अनुलोमन करती है। यदि यह वातादि दोष और मल दूसरे मार्गों में गये होते हैं तो उन्हें अपने मार्ग में लाती है। यह शरीर के लिए हितकारी अग्नि को दीप्त करने वाली और आम दोष को पकाने वाली है।

विलेपी ग्रहिणी हृद्या तृष्णाघ्नी दीपनी हिता। व्रणाक्षिरोगसंशुद्धदुर्बलस्नेहपायिनाम्।।

अर्थ : विलेपी का गुण–विलेपी ग्राही अर्थात् अतिसार ग्रहणी आदि रोगों में मल का संग्रह करती है। हृदय के लिए बलदायक, प्यास को दूर करने वाली, अग्नि को दीप्त करने वाली तथा व्रण नेत्ररोग, वमन विरेचन से शुद्ध दुर्बल पुरूष और नित्य स्नेह पान करने वाले व्यक्तियों के लिए हितकर है।

सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नो•त्यक्तोष्मा चौदनो लघुः।

यश्चाग्नेयौषधक्वाथसाधितो भ्रृष्टतण्डुलः।। विपरीतो गुरूः क्षीरमांसाद्यैर्यश्च साधितः।

अर्थ : ओदन (भात) का गुण–चावलों को अच्छी प्रकार धोकर और बनाये हुए तथा ओदन से मण्ड निकाल देने पर समुचित रूप में बने हुये ओदन जिसमें उष्मा (गर्मी) न निकली हा ` ऐसा वह लघु होता है। आग्नेय (गरम) चित्रक शुण्ठी आदि के क्वाथ से बनाया हुआ ओदन लघुतर होता है एवं चावलों को हल्के रूप में कड़ाही में भूनकर यदि ओदन बनाया जाय तो वह लघुतम होता है। इससे विपरीत बनाया हुआ ओदन गुरू होता है तथा दूध मांसरस आदि द्रव्यों के साथ पकाया हुआ भात विशेष गुरू होता है।

विश्लेषण : चावलों को अच्छी प्रकार धोकर बनाया हुआ भात लघु होता है। और यदि चावलों को न धोया जाय अथवा सामान्य धोकर भात बनाया जाय वह भारी होता है। और यदि इन्हीं चावलो को दूध के साथ खीर बनाया जाय या किसी स्नेह घी तेल में पकाया जाय तो वह अधिक भारी होता है, अथवा भात से मण्ड न निकाला जाय अथवा शीतल या वासी हो गया हो तो वह भात भारी हो जाता है। ऐसे भातों को सामान्यतः दुर्बल अस्वस्थ व्यक्तियों को नहीं खाना चाहिए। चरक ने इन्ही दृष्टिकोण से उष्णमश्नीयात्, स्निग्धमग्नीयात्, इत्यादि भोजन करने के नियमों को च. वि. स्थान में बताया है।

इति द्रव्यक्रियायोगमानाद्यैः सर्वमादिशेत्।

अर्थ : इस प्रकार द्रव्य, क्रिया, योग और मान के आधार पर सभी कृतान्त वर्गों के गुणों का ज्ञान करना चाहिए।

विश्लेषण : तात्पर्य यह है कि यहाँ मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन के गुणों का वर्णन किया गया है। ये द्रव्यों के संस्कार भेद से भिन्न है। इन्हीं का निर्माण विभिन्न चावल, गेहूं, कोद्रव, श्यामाक आदि द्रव्यों के संयोग से भी निर्मित किये जा सकते है। जिस धान्य का जो मुख्य गुण लघु और गुरू होता है उस मूलभूत

धान्य के गुण के अनुसार मण्ड, पेया आदि गुरू और लघु होते हैं। जैसे–लाल चावल का मण्ड, पेयादि लघु और जौ, गेहूं आदि के गुरू होते है। इसी प्रकार क्रिया भेद से भी इ नमें गुरूता और लघुता आती है। जैसे–उपल

(गोहरी) में पकाया हुआ मण्ड पेयादि लघु और पत्थर के कोयले पर पकाये हुये गुरू। इसी प्रकार लो हे के शलाका से छेदकर अग्नि के ऊपर पकाया हुआ आलू लघु होते है और जल में पकाने पर गुरू होते हैं।
योग–योग का तात्पर्य संयोग से है। जिसमें दो या दो से अधिक द्रव्यों का संयोग कर बनाया जाता है। जैसे उपर कहा गया है– चित्रक, शुण्ठी आदि के क्वाथ से बनाया हुआ ओदन लघु होता है। चरक ने भी आहार विधि विशेषायतन में योग की व्याख्या करते हुये बताया है कि–'' *संयोगस्तु द्वयोर्वहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः स विशेषमारभते यन्नैकशो द्रव्याणि''* अर्थात एक द्रव्य जो कार्य को नहीं कर सकते है वह संयोग से होता है। जैसे–दाल चावल के संयोग से बनायी हुई खिचड़ी लघु होती है।
कांसा के पात्र में रखा हुआ घृत दश दिन के बाद विष हो जाता है, खीरा और दही एक साथ खाने से ज्वर एवं प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। मान–मान का तात्पर्य तौल से है। लघु द्रव्य अधिक मात्रा में सेवन करने पर भी आकाश, वायु अग्नि गुण युक्त होने से अग्नि र्सघुक्षण करने वाले होते है। अतः आहार द्रव्यों का पाचन शीघ्र हो जाता है। इसी प्रकार पृथ्वी जल प्रधान गुरू द्रव्य जो अग्नि को मन्द करने वाले होते हैं वह द्रव्य भी यदि मात्रा में लिये जाते हैं तो उसका पाचन भी शीघ्र हो जाता है इस प्रकार इस कृतान्न वर्ग में जो संस्कारित मण्ड, पेया, विलेपी, ओदन का गुण बताया है उसका द्रव्य क्रिया योग और मान के अनुसार प्रयोग करते हुये उनके गुणें की कल्पना की जाती है।

बृंहणः प्रीणानो वृष्यश्वक्षुष्यो व्रणाहा रसः। मौद् गस्तु पथ्यः संशुद्धव्रणकुण्ठाक्ष्जिरोगिणाम्।। वातानुलोमी कौलत्थो गुल्मतूनीप्रतूनिजित्।

अर्थ : मूंग के यूष (रस) का गुण–मूंग के दाल का यूष (रस) वमन विरेचन से शुद्ध व्यक्तियों के लिए तथा व्रण से पीड़ित, कण्ठ एवं नेत्र रोग से पीड़ित व्यक्तियों के श्लि लाभकारी होता है। कुलथी के यूष (रस) का गुण–कुलथी के दाल का यूष (रस) वात को अनुलोमन करने वाला गुल्म तूनी और प्रतूनी रोग को दूर करने वाला होता है।
विश्लेषण : मुद्गयूष (रस) और कुलथी के यूष (रस) के सामान्य गुणों का यहां निर्देश किया गया है। किन्तु सभी का गुण एक सा होता है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसी प्रकार शिम्बी धान्यों में मुद्ग लघु तर होता है और उसका प्रयोग स्वस्थ और रोगी व्यक्तियों के लिए हा`ता है। उसका वर्णन किया गया है। कुलथी का यूष (रस) विशेषकर गुल्म, तूनी प्रतितुनी रा`गों में होता है। तूनी वह रोग है जिसमें मलमूत्र के स्थान दसे वेदना उठकर नीचे पैर तक जाती है। प्रतितूनी वह रोग है जिसमें मल–मूत्र के स्थान से वेदना पक्वाशय तक जाती है। इसमें वायु का अनुलोमन कुलथी के (रस) से होता है। संग्रह ग्रन्थों में अश्मरी रोग में कुलथी का प्रयोग विशेष लाभकर बताया गया है। और प्रत्यक्ष रूप में इससे लाभ होता है। सम्भवतः तूनी प्रतितूनी शब्द से अश्मरी (पथरी) रोग की वेदना ही इष्ट है। यदि यह न भी म ाना जाय तो वायु से विकृति से ही अश्मरी अपने–अपने स्थानों में दोषों का संचय कर उत्पन्न होती है। यदि कारणान्तर से अश्मरी (पथरी) निर्मित होती हो और वायु अनुलोभ हो तो वह निकल जाती है। उसे कही भी अवरूद्ध होने का अवसर नहीं मिलता है। यही कारण है कि वायु को अनुलोभ करने के कारण कुलथी, अश्मरी (पथरी), तूनी, प्रतितूनी और गुल्म रोग को दूर करती है।

तिलपिण्याक विकृति शुष्कशाकं विरूढकम्। शाण्डाकीवटकं दृग्ध्नं दोषलं ग्लपनं गुरू।।

अर्थ : तिलपिण्याक आदि का गुण–तिल पिण्याक (तिल की खली) और तिल से बने अन्य आहार, सूखे साग, अंकुरित सभी धान्य, कांजी के वटक (बड़ा) ये दृष्टि को नष्ट करते हैं त्रिदोष को प्रकुपित करते हैं शरीर में ग्लानि उत्पन्न करते है और गुरू होते है।

रसला बृंहगी वृप्या स्निधा वल्या रूचिप्रदा।। श्रमक्ष्ज्ञुतृट्क्लमहरं पानकं प्रीणानं गुरू। विष्ट म्भि मूत्रलं हृद्यं यथाद्रव्यगुणं च तत्।।

अर्थ : रसाला (श्रीखंड)–यह वृंहण बाजीकर स्निग्ध बलवर्द्धक और भोजन में रूचि उत्पन्न करती है। पानक–यह थकावट क्षुधा, प्यास और क्लम को दूर करता है। शरीर को तृप्ति करने वाला, गुरू, विष्टम्भी, मूत्रल और हृदय के लिए हितकारी होता है। यह द्रव्य के गुण के अनुसार विशेष गुण करने वाला होता है।

विश्लेषण : रसाला उसे कहते हैं, दही को मलाई के साथ हाथ से तोड़कर उसमें दालचीनी, तेजपत्ता, इलायची, और चीनी मिलाकर बनाया जाय। इसे (श्रीखंड) भी कहते हैं। पानक–यह पीने योग्य एक पेय पदार्थ है, यह विभिन्न द्रव्यों के संयोग से बनाया जाता है। और इसमें जल प्रधान होता है, और विशेषकर मधु, इलायची, दालचीनी, मुनक्का, तेजपत्ता, मरिच और खजूर मिलाया जाता है। अथवा गुड़ इमली आदि मिलाये जाते हैं। विशेषकर आम्रपानक द्राक्षापानक पर्पटपानक प्रसिद्ध है। रोग के अनुसार विभिन्न द्रव्यों से इसका निर्माण होता है।

लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदः कफच्छिदः। कासपितोपशमना दीपना लघवो हिमाः।। पृथुका गुत्वोबल्याः कफविष्टम्भकारिणः।
धाना विष्टम्भिनी रूक्षा तर्पणी लेखनी गुरू।।

अर्थ : धान के लावा का गुण–धान का लावा प्यास, वमन, अतिसार, प्रमेह, मेदावृद्धि और कफ को दूर करने वाला है। यह कास, पित्तविकार को शान्त करता है। अग्निदीपक, लघ्रु और वीर्य में शीत होता है। पृथुक (चूड़ा) का गुण–यह गुरू, बलकारक, कफवर्द्धक औश्र विस्टम्भ करने वाला होता है। पृथुक को चिवड़ा भी कहते हैं।
धाना–यह विस्टम्भ करने वाला रूक्ष, तृप्तिकारक, लेखान और गुरू होता है।
विश्लेषण : ऊपर पानक का वर्णन किया गया है। और पानक का गुण द्रव्य के अनुसार होना बताया है। यद्यपि धान का लावा सूखा भी खाया जाता है, फिर भी इससे ब नाया हुआ पानक का प्रयोग विशेष लाभकर होता है। चिवड़ा या चूड़ा–यद्यपि यह हरेधान से और पके हुए धान को उबालकर बिना उबाले हुए जल में भिगोकर मूसल से कूट कर बनाया जाता है। किन्तु हरेधान से बनाया हुआ चूढ़ा उपर ेक्त गुणों से युक्त होती है। धाना–यव को बालू में भूंजकर बनाया जाता है। जिसे धाना (भूजा) कहा जाता है। यव लघु होता है इसलिए कुछ लोग यव से बने हुए भूजा को ही धाना कहते हैं पर किसी भी यव, चना, मटर आदि को वालू में भूंजने पर उसे धाना कहते है। कुछ लोग कच्चे यव (ज ौ) गेहूँ, चना आदि को आग में भूजकर बनायें हुए होरहा को धाना कहते हैं। यह भी द्रव्य के अनुसार गुणकारक होता है।

सत्तवो लधवः क्षुतृट्अमनेत्रायमव्रणान्।।
ध्नन्ति सन्तर्पणाः पानात्सद्य एव बलप्रदाः। नोदकान्तरितान्न द्विर्न निशायां न केवलान्।।
न भुक्त्वा न द्विजैश्छित्वा सक्तूनद्यान्न वा बहून्।

अर्थ : सत्तू का गुण और सेवन विधि–सतू गुण में लघु, भूख, प्यास, श्रम, नेत्र के रोग और व्रणों को दूर करता है। यह शरीर को तृप्त करने वाला और जल में घोलकर पीने से तत्काल बल देने वाला होता है। सत्तू खाने का नियम–सत्तू खाते समय बीच–बीच में जल नहीं पीना चाहिए। सत्तू खाते समय दो बार नहीं लेना चाहिए। रात में सत्तू नहीं खाना चाहिए, केवल सत्तू मात्र का सेवन नहीं करना चाहिए। रोटी, भात आदि खाने के बाद सत्तू नहीं खाना चाहिए। सत्तू की पिण्डी बनाकर दाँतों से काटकर नहीं खाना चाहिए और सत्तू अधिक मात्रा में भी नहीं खाना चाहिए।
विश्लेषण : सत्तू खाने के नियमों का निर्देश यहाँ किया गया है, सत्तू से यव (जौ) का सत्तू का ही ग्रहण होता है। इसे दो बार नहीं खाना चाहिए। जो यह सत्तू का सेवन विधि बताया गया है इन नियमों का पान न करने पर लाभकर नहीं होता है। सत्तू का तर्पण और वलप्रद बताया गया है किन्तु यह रूक्ष और बात वर्द्धक होता है। जो रूक्ष होगा वह वात को अवश्य ही बढ़ायेगा तो तर्पण और वलप्रदर कैंसे हो सकता है ? इस शंका पर ग्रन्थकारों ने प्रभाव से तर्पण और बलप्रद माना है जिस प्रकार वाजीकर औषधियां अपने प्रभाव से सद्य पुष्टिकारक होती है। उसी प्रकार सतू अपने प्रभाव सै सद्यबलकारक होता है। बताया भी है *''सक्तवो बातलारूक्षाः पीतास्ते तर्पयन्तितु''* तात्पर्य यह है कि केवल सत्त ू का सेवन किया जाय या अधिक मात्रा में खाया जाय या पिण्डी बनाकर खाया जाय, रात में खाया जाय, रात में खाया जाय तो वह वातवर्द्धक होता है। इसीलिए इसके सेवन नियम का उल्लेख किया गया है। सत्तू भी द्रव्य के अनुसार ही गुण करता है।

पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विपटम्भी दृष्टिदूषणः।। वेसवारो गुरूः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः। मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः।।

अर्थ : पिण्याक तिल की खली–ग्लानिकर रूक्ष विस्टम्भी और दृष्टि को दूषित करता है।

विश्लेषण : इसके पूर्व श्लोक 35 में तिल और पिण्याक से बने हुए आहार का गुण बताया गया है। यहां केवल पिण्याक का गुण बताया जाता है। लगभग पिण्याक और पिण्याक विकृति का गुण समान ही बताय गया है। विशेषकर पिण्याक को रूक्ष और विष्टम्भी बताया है। इसका कारण यह है कि तिल को पेरर्ने पर स्नेह अलग हो जाता है। बचे हुए भाग क ो पिण्याक कहते हैं। और स्नेह के अभाव के कारण रूक्ष होता है।

कुकूलकर्परभ्राष्ट्कन्द्वगारविपाचितान्।
एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुतरीतरम्।।

अर्थ : अपूर्पो को कुकूल कर्पर, भ्राष्ट, कन्दू और अंगार पर पकाया जाता है तो एक ही द्रव्य का अपूप उतरोतर लघु होता है।

विश्लेषण : कृतान्न वर्ग की परिसमाप्ति करते हुए आचार्य ने बताया है कि खाद्य पदार्थ जैसे, रोटी, पूरी, मालपूआ आदि को कुकूल अर्थात धान के भूसी के आग में पकाया जाय अथवा मिट्टी के खपड़े में पकाया जाय या भ्राष्ट मं पकाया जाय या अंगार पर पकाया जाय तो क्रमश्ज्ञः लघु होते हैं। *कुक्रूल की परिभाषा कुकूलं शगंकुभिः किर्णे स्वभ्रेस्याच्च तुषानले* '' अर्थात एक गड्ढे को खोदकर उसमें धान की भूसी का आग छोड़ दे उसके ऊपर पतले लोहे की शलाका (छड़) विछाकर उस पर पकाया जाय। हेमाद्रि टीका में इनकी परिभाषा निम्न रूप से बतायी है। कर्पर–उसी गड्ढे के ऊपर मिट्टी का पात्र उल्टे रख पकाया जाय। भ्राष्ट्–यदि मिट्टीं के पात्र में छिद्र कर उल्टे रखे जाय तो भ्राष्ट कहते हैं।

अर्थ : कन्दू–छिद्र वाले लोहे के पात्र को उलट कर रखने को कन्दू कहते हैं।

अंगार–शब्द से अंगार से भरे हुए पात्र वोरसी लिया जाता है। इस प्रकार से आग में पकाया हुआ आहार द्रव्य उतरोतर हल्का होता है। अर्थात् कुकूलक से हल्का कर्पर, कर्पर से हल्का कन्दू और कन्दू से हल्का अंगार में पकाये रोटी आदि खाद्य पदार्थ होते हैं। एक योनि से एक ही द्रव्य जैसे गेहूँ, यव (जौ), मूंग, चना आदि लिए जाते हैं। यदि गेहूँ से ही बनी रोटी इन चार पाचन विधियों से पकाया जाय तो क्रमशः उतरोतर खघु होते है। यहाँ पूप शब्द से ''द्रवस्विन्नपिष्टान्नकृतः पूपः, विपरीतपूपो अपूपः'' यह पूप और अपूप में भेद किया गया है।

अथ शाकवर्ग।

शाकं पाठाशटीसूषासुनिषणसतीनजम्। त्रिदोषघ्नं लघु ग्राहि सराजक्षववास्तुकम्।। सुनिषणो ९ग्निकृद्बृष्यस्तेषु राजक्षवः परम्। ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं वर्चोभेदि तु वास्तुकम्।।

अर्थ : पाठा, शटी, (कचूर) सूषा, (कासमर्द), सुनिषण्ण (चौपतिया) सतीनज (विष्णुकांता) राजक्षव (दूधि, लौकी) और वास्तुक (बथुआ) ये साग त्रिदोष शामक लघु और ग्राही होते हैं। विशेष कर चौपतिया का साग अग्निकारक और वृष्य अर्थात् शुक्र बढ़ाने वाला होता है। तथा दूधिया ग्रहणी अर्श रोग को दूर करने वाला होता है। और बथुअे का साग मल का भेदन करने वाला होता है।

हन्ति दोषत्रयं कुष्ठं वृष्या सोष्णा रसायनी। काकमाची सरा स्वर्या–
–चागंर्यम्ला९ग्निदीपनो।। ग्रहण्यर्शो९निलश्लेष्महितोणा ग्राहिरगो लघुः।

अर्थ : काकभाची (मकोय) का शाक त्रिदा ेष और कुष्ठ रोग शामक वृष्य (शुक्रवर्धक) कुछ, उष्ण रसायनी सारक और स्वर के लिए अर्थात् स्वर भेद रोग को दूर करने वाली होती है। चांगेरी (छोटी चौपतिया) यह रस में अम्ल अग्नि दीपक, ग्रहणी, अर्श, वात, कफ, दोषों के लिए लाभकर और वीर्य में उष्ण ग्राही एवं लघु होती है।

पटोलसप्तलारिष्टशागंष्टावल्गुजा ९मृताः।। वेत्राग्रबृहतीवासाकुंतलीतिलर्पाणकाः।
मण्डूकपर्णोकर्कोटकारवेल्लकपर्पटाः। नाडीकलायगोजि ह्वावार्ताकं वनतिक्तकम्। करीरं कुलक्रं नन्दी कुचेला शकुलादनी।। कठिल्लं केम्बुकं शीतं सकोशातककर्कशम्। तिक्तं पाके कटु ग्राहि वातलं कफपित्तजित्।।

अर्थ : परवल पत्र, शातला, नीम की पत्ती, शार्गेष्टा, वकुची, गुड्च, वेत का अग्रभाग, वडीकटेरी, अडूषा की पत्ती, कुन्तली (छोटी तिल) तिलपर्णी, मण्डूकपर्णी, कर्कोटक (खेखसा) कारवेल्ल, (करैला) पर्पट (पित्त पापडा) नाडीकलाय (मछेछी) गोजिह्वा (वनगोभी) वार्ताक (वैगन) वनतिक्तक (चिरायता कोपत्ती) करीरं, कुलक परवल नन्दौ (पारस पीपल) कुचेला (कुष्णापाठा) शकुलादनी (कुटकी) कठिल्ल (छोटा करैला) अथवा रक्तपूनर्नवा के म्बुक (करेमू, करमी) कोशातक (तरोई) और कर्कश (कवीला) इनका शाक वीर्य में शीत रस मे तिक्त, विपाक में कटु, ग्राही, वातवर्धक, और कफ पित नाशक है।

विश्लेषण : सामान्यतः इन सभी शाकों का जो गुण सभी में पाये जाते है उनका संक्षेप में एक वर्ग बना दिया गया है। और इनका अलग–अलग विशेष गुणों का वर्णन किया जायेगा।

हृद्यं पटोलं कृमिनुत्स्वादुपाकं रूचिप्रदम्। पित्तलं दीपनं भेदि वातघ्नं बृहतीद्वयम्।। वृषं तु वमि कासघ्नं रक्तपितहरं परम्। कारवेल्लं सकटुकं दीपनं कफजित्परम।। वार्ताकं कटुतिक्तोष्णं मधुरं कफवातजित्। सक्षारमग्निजननं हृद्यं रूच्यमपितलम्।।

अर्थ : परवल के शाक का गुण :– यह हृदय के लिए हितकारी कृमिरोग नाशक विपाक में मधुर और भोजन में रूचि करने वाला होता है।

छोटी और बड़ी कटेरी के शाक का गुण :–यह दोनों पितवर्धक अग्निदीपक मल का भेदक और वात नाशक होते है। अडूसा के पती का शाक।–यह वमन और कास (खाँसी) को दूर करता है तथा रक्तपित रोग को शान्त करने में उतम औषधि है। करैला का शाकः–यह रस में कटु अग्निदीपक और कफ को दूर करने में श्रेष्ठ है।

वैंगन :– यह रस में कटु तिक्त और मधुर है वीर्य में उष्ण औ र कफ वात को दूर करता है। इसमें क्षार रस की प्रधानता होती है। यह अग्नि जनक हृदय के लिए लाभकारी रूचि वर्धक और पित्त को नहीं बढ़ाता है।

विश्लेषण : सामान्यतः पटोल का गुण यहाँ बताया गया है पटोल शाकों में उत्तम होता है। अन्यत्र पटोल के विषय में बताया गया है कि–

''पटोल पत्रं पित्तघ्नं वल्लौ तस्य कफापहा'' फलं त्रिदोष शमनं मूलं चास्य विरेचनम्।।

अर्थात् पत्तौ पित्त शामक, डण्ठल कफनाशक, फल त्रिदोषशामक और मूल विरेचन करने वाला होता है। सामान्यतः वैगन का साग हानिकर होता है। ऐसी धारणा बनी हुई है। किन्तु यहाँ वैगन के उतम गुणों का निर्देश किया गया है। वैंगन में क्षार का रहना बताया है। यह वैगन का धर्म है जो पाचन में अग्नि दीपन में सहायक होता है। यह रस में कटु तिक्त होते हुये पित का वर्धक नहीं होता किन्तु मधुर गुण के रहने से उसके अनुकूल ही रहता है। इसलिए यहां अपित्तल शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् यह पित को नहीं बढ़ाता है किन्तु पित को समान मात्रा में रखता है।

करीरमाध्मानकरं कषायं स्वादु तिक्तकम्। कोशातकावल्गुजकौ भेदिनावग्निदीपनौ।। तण्डुलीयो हिमो रूक्षः स्वादुपाकरसो लघुः। मदपित्तविषास्रघ्नः–
–मुजातं वातपित्तजित्।। स्निग्धं शीतं गुरू स्वादु बृहणं शुक्रकृत्परम्।
गुर्वो सरा तु पालगंया– –मदघ्नी चाप्युपोदिका।।
पालगंयावत्स्मृतश्चचुः स तु संग्रहणात्मकः।

1. करीर का शाक :– यह उदर में आध्मानकारक रस में कषाय, मधुर और तिक्त होता है।
2. कोशातकी और वकुची :– यह मलभेदक और अग्निदीपक होते हैं।
3. तन्दुलीय (चौलाई) यह वीर्य में शीत, रूक्ष, विपाक में मधुर, लघु और मद पित्त, विष और रक्तवि कार को दूर करने वाला होता है।
4. मुजात शाक :– यह वातपित्तशामक, स्निग्ध, शीतल, गुरू, मधुर, वृंहण और विशेषकर शुक्रवर्द्धक होता है।

5. पालकी :— यह गुरू और मल को भेदन करने वाली होती है।
6. उपोदिका (पोइ) :— यह मद अर्थात् भांग, गाँजा, इत्यादि के सेवन से उत्पन्न नशा को दूर करती है। और अपि शब्द से यह गुरू और मल मेदिनी भी होती है।
7. चचु (चेंचु) :— यह पालकी के समान गुणकारी होता है। किन्तु यह भेंदी न होकर मल का संग्रहण करता है।
विश्लेषण : सुश्रुत ने इसे मलमूत्र को बाँधने वाला बताया है यथा—

''चिल्ली वास्तुकवत्ज्ञेया पालंक्या तण्डुलीयवत्''।
वातकृत् वद्धविण्मूत्रा रूक्षापिन्तकफेहिता।।

और यहाँ पालकी को मल मेदनी बताया है। तथा ''*पालगक्या पिच्छिला गुर्वी श्लेष्मलाभेदिनीहिमाः*'' से अष्टागं संग्रह में भी इसे मलमेदिनी बताया है। इस प्रकार परस्पर विरोध बताय गया है। इसका परिहार इस प्रकार किया जा सकता है यदि पालकी का शाक कच्चा खाया जाय तो वह मलमूत्र को रोकने वाली होती है। यदि पकाकर खाया जाय तो मल मेदिनी होती है।
सुश्रुत ने इसे लघु पित्तनाशक, पिच्छ़िल व्रणी व्यक्तियों के लिए हितकारी, रस में कषाय, मधुर, ग्रा ही और त्रिदोष शामक बताया है।

विदारी वातपित्तध्नी मूत्रला स्वादुशीतला।। जीवनी बृंहणो कण्ठया गुर्वी वृष्या रसायनी। चक्ष्या सर्वदोषध्नी जीवन्ती मधुरा हिमा।।

अर्थ : विदारी कन्द का गुण :—यह वातपित्त नाशक, मूत्रल, मधुर, शीतल, जीवनीय शक्तिवर्द्धक, वृहण, कण्ठ के रोगों के लिए लाभकर गुरू वलकारक और रसायन है।
जीवन्ती शाक का गुण :—यह नेत्र के लिए हितकारी वातपित्तकफ शामक मधुर और शीतवीर्य है।

विश्लेषण : शाक वर्ग में इसका उल्लेख है। इसलिए विदारी कन्द की पत्ती का यह गुण समझ ना चाहिए। ऊपर और आगे पत्र पड़ता है। कन्द का भी शाक हो सकता है।

अन्यत्र जीवनों वृंहणो वृष्यः वल्य शस्तो रसायनम्। विदारी कन्दः कण्ठयश्च मूत्रलः स्वादु शीतलः।।

अर्थ : से पुल्लिग का निर्देश कर कन्द का गुण निर्देश किया गया है इन्हीं गुणों का उल्लेख यहाँ भी किया गया है इस दृष्टि से कुछ विद्वान कन्द शाक का ही गुण बताते हैं। इसे वृष्य और रसायन यह दोनों गुणयुक्त बताया है। प्रायः वृष्य (वाजीकर) रसायन यह दोनों गुण भिन्न—भिन्न है। इसलिए यहाँ वृष का बलकारक अर्थ किया गया है जीवन्ती शाक शाकों में उत्तम माना गया है। जैसा कि—

वराशाकैषु जीवन्ती सर्षपास्त्वरा मता।

बताया है जीवन्ती दो प्रकार की होती हे। एकमधुर और दूसरा मधुर नहीं होती है। जो मधुर होती है उसी का गुण यहाँ बताया गया है। जो मधुर नहीं होती है उसमें उपरोक्त गुण अल्प मात्रा में पाया जाता है। जैसा कि

चक्षुष्या सर्वदीषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिंमा। शाकानां प्रवरा न्यूना द्वितीय किच्चिदेवतु।।
कूष्माण्डतुम्बकालिगंकर्कोर्वेर्वारूतिण्डिशम्। तथा त्रपुसचीनाकचिर्भटं कफवातकृत्।।
भेदि विष्टम्भ्यभिष्यन्दि स्वादुपाकरसं गुरू। वल्लोफलानां प्रवरं कूष्माण्डं वातपित्तजित्।। वस्तिशुद्धिकरं वृष्यं; त्रपुसं त्वतिमूत्रलमक्। तुम्बं रूक्षतरं ग्राहि कालिगंर्वारूचिर्भटम्।। बालं पित्तहरं शीतं विद्यात्पक्वमतो ऽन्यथा।

अर्थ : कूष्माण्ड (कोहड़ा सफेद) तुम्ब (अलावू—गोल लौकी) कालिगं (तरबूज) कर्कारू (ककड़ी) एर्वारू (बड़ी ककड़ी) तिण्शि (डिण्डीश) त्रपुष (खीरा) चीनाक (खरबूज) चिर्भट (फूट) ये शाक कफ और वातवर्द्धक मलभेदक, विष्टम्भि, अभिष्यान्दि, रस और विपाक में मधुर और गुरू होते हैं। लता से उत्पन्न होने वाले इन सभी का गुण एकत्र समान्य रूप से वर्णन किया गया है। विशेष रूप से इनका विशेष गुण अलग—अलग बताया

जायेगा। वल्ली लता फलों में सबसे उत्तम पेठा होता है। यह बात पित्त नाशक वस्ति प्रदेश को शुद्ध करने वाला और बलकारक होता है।
खीरा :– यह अधिक मूत्रल होता है। अर्थात् कूष्माण्ड आदि अल्प मूत्रल होते हैं। तुम्ब (गोली लौकी) :– यह अधिक रूक्ष और ग्राही होता है। तरबूज, बड़ी कक्ड़ी और फूट :– यह सामान्य रूक्ष और मलग्राही होता है। यह लौकी आदि यदि कच्चे होते है तो पित्तनाशक और वीर्य में शीत होते है।
विश्लेषण : कोमल अपक्व कूष्माण्ड आदि सभी फल साग रूचिकारक, स्व ादु, और शीतल होते हैं। जैसा कि सुश्रुत ने खीरा के विषय में बताया है कि–

नीलं यत् त्रपुषं वृष्यं पित्तहरंमतम्। तत्पाण्डु कफ कृत् जीर्णमस्रपित्तकरंस्मृतम।।

अर्थ : कुछ लोग वाल शब्द का सम्बन्ध लौकी आदि से लेते है। किन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि कूष्माण्ड आदि को एक ही वर्ग में रखा गया है। और यह सभी फल हैं इसलिए कूष्माण्ड आदि सभी फल शाक कच्चे लाभदायक और पके फल उतम गुणकारक नहीं होते हैं

शीर्णवृन्तं तु सक्षारं पित्तलं कफवातजित्।। रोचर्न दीपनं हृद्यमष्ठीला ९९नाहनुल्लधु।

अर्थ : शीर्णवृत अर्थात् पककर अपने वृत से जो कूष्माण्डादि फल अलग हो जाते हैं वह क्षारयुक्त, वित्त वर्द्धक कफ और वात को जीतने वाले होते है। भोजन में रूचिकारक अग्निदीपक हदय के लिए हितकारी होते हैं। तथा अष्ठीला और आनाह रोग को दूर करते हैं। और लघु होते हैं।
विश्लेषण : शीर्णवृन्त से कुछ लोग अमलतास के पत्ती एवं कोमल फलों के शाक का गुण मानते हैं। अमलतास वात और कफ नाशक होता है। इसके सेवन से मल का भेदन होता है। जब मल का निःसरण हो जाता है तो उदर में संचित वायु का विनाश होता है। फलस्वरूप अष्ठीला अनाह रोग नष्ट हो जाते है। इससे अग्नि में तीव्रता और भोजन में रूचि हो जाती है किन्तु हेमादि टीका में–

शुक्लं लघूष्णं सारं दीपनं वस्ति शोधनम्। सर्वदोष हरं हृद्यं पथ्यं चेतो विकारिणाम्।।

अर्थ : इस सुश्रुत वचन का प्रमाण स्वरूप देकर उचित रूप में पके हुये कुष्माण्ड आदि का गुण बताया है। किन्तु यहाँ पित्त वर्द्धक और कफ वातनाशक शीर्णवृन्त का गुण बताया है। सफेद कोहडे का गुण सर्व दोषहर बताया है। अतः कूष्माण्ड ही है।

मृणालबिसशालूककुमुदोत्पलकन्दकम्। नन्दीमाषककेलूटश्रृगंटककसेरूकम्।। कौचचादनं कलोडयं च रूक्षं ग्राहि हिमं गुरू।

अर्थ : मृणाल, विष, शालूक, कुमुद, उत्पल कन्द, नन्दी, माषक, केलूट, श्रृ गंटक, कसेरू, कौंचादन, कलोंड्य ये सभी रूक्ष, ग्राही, वीर्य में शीत और गुरू होते है।
विश्लेषण : मृणाल–कमल पुष्प के सूक्ष्म मूल का नाम मृणाल और स्थूल मूल का नाम विस है।
सालूक कमलकन्द :–कुमुद, सफेद कुई, और नीलकमल (उत्पलः) कन्द, नन्दी, कमल की कलिका जिसमें कमलगट्टा पाया जाता है।
माषक : (जलकन्द विशेष) केलूठः जल गूलर श्रृगांटक सिघाड़ा, कसेरू, कौचांदन (एक प्रकार का जलकन्द) जिसे कौंच पक्षी खोदकर खा जाते हैं।
कलोड्य :– कमलगट्टा ये सभी शाक के रूप में प्रयुक्त होते हैं और जल में होते हुए रूक्ष, ग्राही, शीतल और भारी होते हैं। उपरोक्त सभी जल में ही उत्पन्न होने वाले है।

कलम्बनालिकामार्षकुटिज्जरकुतुम्बकम्। चिल्लीलट्वाकलोणीकाकुरूटकगवेधुकम्।।
जीवन्तिभुज्भवेडगजयवशाकसुवर्चलम् आलुकानि च सर्वाणी तथा सूप्यानि लक्ष्मणम्। स्वादु रूक्षं सलवणं वातश्लेष्मकरं गुरू। शीतलं सृष्टविण्मूत्रं प्रायों विष्टभ्य जीर्यंति।। स्विन्नं निष्पीडितरसं स्नेहाढय नातिदोषलम्।

अर्थ : कलम्ब, नलिका, मर्षा, कुटीजर, तुकुम्बक चिल्ली, लट्वाक, लोणिका, कुरूटुक, गवेधुक जीवन्ती , झुंझू, एडगज, जवासा, सुवर्चल ये सभी शाक तथा सुप्य, दाल के काम में आने वाले मूंग, उरद, अरहर आदि तथा मुलेठी रस मे मधुर, रूक्ष, नमकीन वात कफ कारक, गुरू, वीर्य में शीतल मलमूत्र निःसारक और प्रायः विष्टम्भ करने के बाद पचते हैं। यदि इन पत्रशाकों को उबाल कर रस ि नकाल लिया जाय, घी अथवा तेल में भुजकर खाया जाय तो अधिक दोष कारक नहीं होते है।

विश्लेषण : यहाँ सामान्यतः पत्र शाक के गुण का निर्देश किया गया है ये शाक वर्तमान समय में इन्हीं नाम से प्राप्त नहीं होते। किन्तु कुछ सागों का नाम निर्देश इस प्रकार किया जासकता है। कलम्ब–(करेमुआ) नालिका (नाड़ीसाक) मार्ष (मरषा) कुटीचजर (लालमुली) कुतुम्बक (गूमा) चिली यव के खेत में उत्पन्न होने वाला वन वथुआ, लट्वाक (गुग्गुलु की पत्ती) लौकी नोनी का साक करूटक (सुलवारी) गवेधुक (मक्का पत्ती) जीवन्ती (लालमर्षा) झुंझू (सनई के पुष्प) एडगज (चकवड़ की पत्ती) यव–साक (वथुआ) सुवर्चल (हुरहुर की पत्ती) और आलू इनमें एक आलू कन्द साक है। शेष सभी पत्ती के शाक समान गुण हैं शिम्बी धान्य छीमी वाले दाल के लिए प्रयुक्त होने वाले धान्य का गुणका निर्देश किया गया है।

यदि इन्हीं पत्रसाकों को उबाल कर उसका रस निचोड़ कर स्नेह में भूंजकर खाया जाय तो यह अल्प मात्रा में दोष को बढ़ाने वाले होते है। सामान्यतः–

''सवेर्षु शाकेषु वसन्ति रोगा, ते हेतवो देह विनाशनाय। तस्मात् वुधः शाकविवर्जनन्तु, कुर्यातथाम्लेषु स एव दोषः।।''

अर्थ : इन सभी शाकों को रोग कारक बताया गया है। ये शाक 6 प्रकार के होते है। जैसाकि :–
''पत्रं, पुष्पं, फलं, नालं, कन्द्र संस्वेदजंत था। शाकंषड्विधमुद्दिष्टं गुरू विद्याद् यथोत्तरम्''
बताया गया है।

लघुपत्रा तु या चिल्ली सा वास्तुकसमा मता।। तर्कारीवरूणं स्वादु सतिक्तं कफवातजित्। वर्षाभ्वौ कालशाकं च सक्षारं कटुतिक्तकम्। दीपनं भेदनं हन्ति गरशोफकफानिलान्।

अर्थ : चिल्ली शाक का गुण :– छोटी–छोटी पत्ती वालो जो चिल्ली शाक होता है वह वथुये के समान गुणकारी होती है।

तर्कारी (अरनी) वरूण (वरना की पत्ती) यह रस मे ं मधुर ईषद् तिक्त और वात तथा कफ को दूर करने वाले होते है। वर्षाभू (रक्त, और श्वेत पुनर्नवा) गदह पुरना और काल शाक, (कालिका शाक) यह किंचित् क्षार, रस, में कटु, तिक्त, अग्निदीपक, मलभेदक तथा कृत्रिमविष शोथ, कफ और वात विकार को नष्ट करने वाले होते हैं।

दीपनाः कफवातघ्नाश्चिरबिल्वागराः सराः।
शतावर्यगंकुरास्तिक्तग्वृष्या दोषत्रयापहाः।
रूक्षो वंशकरीरस्तु विदाही वातपित्तलः।। पतूरो दीपनस्तिक्तः प्लीहार्शःकफवातजित्। कुमिकासकफोत्क्लेदान् कासमर्दो जयेत्सरः।।
रूक्षोष्णमम्लं कौसुम्भं गु रू पितकरं सरम्। गुरूष्णं सार्षपं बद्धविण्मूत्रं सर्वदोषकृत्।।

अर्थ : चिरविल्व (करन्ज का अंकुर का अग्रभाग) का शाक अग्नि दीपक, कफवातनाशक तथा दस्तावर होता है। शतावरी का अंकुर का शाक रस में तिक्त शुक्रकारक और त्रिदोष शामक है। वाँस के कोपर का शाक रूक्ष, दाह कारक, वात और पित्त वर्धक है। पतूर (मछेछी) का शाक अग्नि दीपक रस में तिक्त प्लीहा, अश्र, कफ और वात को नष्ट करने वाला है। कासमर्द (कसौजी) का शाक, कृमि, कास, कफ और उत्क्लेद (उभड़े हुये दोषों के द्वारा मुख में बार–बार पानी का आना) दूर करता है औ र मल शोधक है। कौसुंम्भ (वर्रे) का शाक रूक्ष वीर्य में उष्ण रस में अम्ल गुरू, पित्तव र्धक और मल निःसारक है। सार्षप (सरसों) का शाक गुरू, उष्णः मलमूत्र के वेग को रोकने वाला और त्रिदोष का प्रकोपक है।

विश्लेषण : यहाँ वृक्षों के अंकुर और हीनगुण वाले कुछ शाकों का वर्णन किया गया है। इसमें वांस के कोपल के गुण में वात पित वर्धक गुण बताये गये हैं। किन्तु सुश्रुत ने इसे कफ वर्धक माना है। प्रायः वात पित्तवर्धक और कफ का नाशक इसका गुण सभी आचार्यो ने माना है।

अष्टागंसंग्रहमें, वातपित्तकरा रूक्षा कटुपाका कफापहा। माधवकार ने भी 'वातपित्तकरा, रूक्षा कटुकारसपाकतः।।
'वेणों करीरा श्लेष्मघ्ना सकषायाविदाहिनः''।

अर्थ : 'इन प्रमाणों के आधार पर सुश्रुत का कफ वर्धक मानना उचित नहीं प्रतीत होता अतः वेणों करीरा, *गुरवः कफमारूत कीपनाः।''*

यह पुष्पवर्ग का श्लोक और पुनः *''वेणो करीराः गुरबःकफमारूत कोपना''*। यह कन्द वर्ग का श्लोक एक ही अर्थ का प्रतिपादक दो स्थानों पर पढ़ना प्रक्षेप प्रतीत होता है। क्योंकि आचार्य का एक ही बात को दो स्थान पर पढ़ना कभी भी अभीष्ट नहीं होगा। सरसों का शाक अत्यन्त हीन ग ुण होता है इसे त्रिदोष वर्धक और मलमूत्र को बांधने वाला बताया है। अष्टागंसंग्रह में उसे मधुर स्निग्ध, उष्ण बताते हुये सभी शाकों में हीन गुण बताया है किन्तु सुश्रुत ने–' *कफघ्नं सार्षपं शाकमासुरं शाक में वच* '' से सरसो और राई के शाक को कफनाशक बताया है। सुश्रूत के वचन से सरसों का शाक हीन गुण न होकर कफ का नाशक होता है। किन्तु 'वराशाकेषु जीवन्ती सर्षपास्त्वऽवरामता।।'' इस वचन का विरोध होता है, प्रत्यक्ष में सबसे हानिकर सरसों का शाक माना जाता है और देखा जाता है। इसी प्रसंग में किसी कवि ने –

सर्षप शाकं सलवण युक्तं ग्राम समोपे लघ्वाकूपं।
एकं पुत्रं मर्कट रूपं ग्रामीणः कि गणयति भूपम्।

अर्थ : सबसे हीन गुण युक्त वाले सरसो का शाक खाकर जल पीने वाला स्वतन्त्र किसान राजा को भी कुछ नहीं समझने वाला होता है। इस प्रकार आम जनता में भी सरसों का शाक स बसे हीन गुण वाला समझा जाता है।

यद् बालमव्यक्तरसं किंचित्क्षारं सतिक्तकम्। तन्मूलकं दोषहरं लघु सोष्णं नियच्छति।।
गुल्मकासक्षयश्वासव्रणानेत्रगलामयान्। स्वराग्निसादोदावर्तपीनसांश्च–
–महत्पुनः।
रसे पाके च कटुकमुष्णावीर्य त्रिदोषकृत्। गुर्वभिष्यन्दि च स्निग्धसिद्धं तदपि वातजित् ।। वातश्लेष्महरं शुष्कं सर्वमामं तु दोषलम्।।

अर्थ : मूली का गुण– जो बालक अर्थात् कोमल जिसमें किसी भी रस की प्रतीति न होती हो कुछ क्षार और तिक्त हो वह मूली दोषों का नाशक लधु उष्ण वीर्य होता है। और गुल्म, कास, क्षय, श्वास, व्रण, नेत्र और गले के रोगों को तथा स्वरभेद, अग्निमान्द्य, उदावर्त एवं पीनस रोगों को नष्ट करता है। बड़ी मूली का गुण–यह रस और विपाक में कटु उष्णवीर्य त्रिदोषप्रकोपक, गुरू, और अमिष्यन्दि होता है। इस बड़े मूली को भी तेल अथवा घी में पकाकर खाने से बात को दूर करता है। तात्पर्य यह है कि हानिकारक बड़े मूली को तेल अथवा घी में शाग बना कर खाया जाय तो हानिकर नहीं होता है। छोटी अथवा बड़ी मूली को काटकर सूखा लेने पर उसका सेवन करने से वात और कफ दोष को दूर करता है। किन्तु यदि कच्ची मूली खाया जाय तो वह छोटी हो या बड़ी हो वह त्रिदोष को बढ़ाती है।

क्टूष्णो वातकफहा पिण्डालु पित्तवर्धनः।। कुठेरशिग्रुसुरससुमुखासुरिभूस्तृणाम्। फणिज्जार्जकजम्बीरप्रभृति ग्राहि शालनम्।। विदाहि कटु रूक्षोष्णं हृद्यं दीपनरोचनम्। दृक्शुक्रुकृमिहृतीक्ष्णं दोषोत्क्लेशकरं लघु। ।

अर्थ : पिण्डालू (आलू) का गुण–आलू रस में कटुवीर्य में उष्ण वात कफ नाशक और पित्तवर्द्धक होता है। कुठेर (सफेद तुलसी) शिग्रू (सहिजन) सुरस (काली तुलसी) सुमुख (वनतुलसी) आ सुरी (राई) भूस्तृण (हरि द्वारी सुगन्धिततृण) फणीच्भक (दवना) लर्जक (पुदीना) जम्वीर नीबू अ ादि के हरे पत्ती का शाक ग्राही, दाह कारक

रस में कटु रूक्ष, वीर्य में उष्ण, हदय के लिए हितकारी, अग्नि दीपक, भोजन में रूचिकारक, दृष्टि शुक्र और कृमि को नष्ट करने वाला तीक्ष्ण तथा दोषों को कुपित करने वाला एवं लघु होता है।
विश्लेषण : पिण्डालु शाक से कुछ लोग वराही कन्द का ग्रहण करते हैं। वराहीकन्द एक बलवर्द्धक द्रव्य है, यद्यपि आलू एक वर्तमान काल का शाक है इसलिए यह कल्पना यथार्थ है कि प्राचीन काल में इसका वर्णन नहीं पाया जाता है। लगभग चार हजार (4000) वर्ष पूर्व लिखे गये सुश्र ुत संहिता में '*'पिण्डालुकं कफकरं गुरू विष्टम्भि शीतलम्''* से इसके गुण का निर्देश किया गया है। तथा सुश्रुत में वराहीकन्द गुण के पिण्डालू से भिन्न गुणों का निर्देश किया गया

वराहीकन्दः श्लेष्मध्नः कटुको रसपाकतः। मेह कुष्ठ क्रिमिहरो वृष्योवल्यो रसायनमक्।।

अर्थ : यदि वाराही कन्द ही पिण्डालू होता तो पृथक–पृथक पाठ और भिन्न–भिन्न गुणों का निर्देश न किये होते। आयुर्वेद एक सार्वभौम शास्त्र है उसमें विभिन्न देश में और विभिन्नकाल में होने वाले वस्तुओं के गुण का विवेचन किया है। सुश्रुत ने कन्दवर्ग का निर्देश पृथक किया है उसमें पिण्डालू, मध्वालू, हस्त्यालू, काष्ठालू, शंखालू, रक्तालू यह आलू का भेद किया है, यह भेद आकार और वर्ण के अनुसार किया गया है। वस्तुतः जिन गुणों का निर्देशष किया गया है वे सभी गुण वर्तमान आलू में पाया जाता है। विशेषकर सुश्रुत निर्दिष्ट कफकारक भारी और विष्टाम्भि करने वाला पाया जाता है। यह आलू जाति भेद से शीतल और उष्ण होता है। सभी प्रकार के आलू पित्त वर्द्धक और वात वर्द्धक पाया जाता है। विशेष गोलाकार आलू का ही पिण्ढलू शब्द से ग्रहण किया जाता है। कुठेरादि हरेपत्तियों का गुण निर्देश किया गया है। यहां प्रभृति शब्द का निर्देश है। इससे सामान्य सभी पत्तियों के शाक का गुण बताया है अष्टांग संग्रह में–

''धान्य तुम्बुरू सैलये यवानी श्रृगवेरकाः। पर्णास्रो गुज्जनो•जाजी कण्डीरं जलपिप्पली।।''

आदि का ग्रहण किया है। ये सभी पत्तियों का ही गुण है, किन्तु फल का गुण इससे भिन्न होता है। सभी पत्ती शाक यदि हरी ली जाय तो वह दोषों को कुपित करता है। किन्तु इनके पत्तियों को सुखाकर प्रयोग में लाया जाय तो वातकफनाशक होते हैं।

हिष्माकासश्रमश्वासपार्श्वरूक्पूतिगन्धहा। सुरसः सुमुखो नातिविदाही गरशोफहा।। आर्दिका तिक्तमधुरा मूत्रला न च पित्तकृत्।

अर्थ : सुरस–काली तुलसी की पत्ती का शाग या स्वरस हिचकी खाँसी क्षय से उत्पन्न श्वास (क्षुद्र खास) पार्श्व पीड़ा और दुर्गन्धि को दूर करने वाला होता है।
सुमुख–(वन तुलसी) का शाक अधिक दाह नहीं उत्पन्न करता है अर्थात् इसके सेवन से सामान्यतः कुछ दाह होता है। कृत्रिम विष और शोथ को दूर करता है।
आर्द्रिका–हरी धनियाँ की पती का शाक रस में तिक्त और मधुर मूत्रकारक और पित्त को बढ़ाने वाली नहीं होती है।
विश्लेषण : यहां शाक वर्ग में इनका निर्देश किया गया है, इनके शाक का प्रयोग करने पर हिचकी आदि रोगों में लाभ देखा जाता है। विशेषकर व्रण जब सड़ जाते है और उससे दुर्गन्धि निकलती है तो काली तुलसी का कल्प लेप करने से लाभ देखा जाता है। इसी प्रकार सामान्यतः वन तुलसी की पत्ती का रस विष भक्षण में प्रयोग किया जाता है।
धनियाँ :– गुण में उष्ण होती है, किन्तु उष्ण होते हुए पित्त वर्द्धक नहीं होता। तात्पर्य यह है कि धनियाँ खाने से अग्नि की वृद्धि अन्न का पाचन होता है। जब तक अग्नि की वृद्धि न होगी तब तक पाचन सम्भव नहीं है। उष्ण, द्रव्य ही प्रायः अग्नि वर्द्धक और पाचक होते हैं। यहां परम चतुर वाग्भट्ट ने धनिया को न उष्ण और न शीतल बताया है किन्तु यह पित्त को नहीं बढ़ाती है। यह कह कर बताया है कि उष्ण होते हुए पित वर्द्धक नहीं है तथ उष्ण होते हुए यह मूत्रल है।

लशुनो भृशतीक्षणोषाः कटुपाकरसः सरः। हृद्यः केश्यो गुरूर्वृष्यः स्निग्धो रोचनदीपनः। भ्ज्ञग्नसन्धानकृद् वल्यो रक्तपितप्रदूषणः।। किलासकुष्ठगुल्मार्शोमेहक्रिमिकफानिलान्। सहिध्मपीनसश्वासकासान् हन्ति रसायनम्।।

अर्थ : लहशुन का गुण– यह वीर्य में अधिक उष्ण एवं तीक्ष्ण, रस और विपाक में कटु दस्तावर, हृदय के लिए लाभकर, केश के लिए लाभकर अर्थात् केशों में उत्पन्न कृमियों कों स्वरस मर्दन से नष्ट करने वाला होता है पचने में भारी शुक्रवर्धक, स्निग्ध, भोजन में रूचि कारक, अग्नि दीपक टूटे हुए सन्धियों को सन्धान करने वाला, बलवर्धक, रक्त एवं पित को दूषित करने वाला होता है। सफेद कुष्ठ, कुष्ठ गुल्म, अर्श, प्रमेह, क्रिमि एवं कफ तथा वात को दूर करता है हिक्का रोग पीनस, श्वास और कास को दूर करता है और रसायन है।
विश्लेषण : वात रोग में इसका प्रयोग विशेष रूप में होता है। इसमें पांच रसों की सम्पति पायी जाती है उपरोक्त गुण रसोका कर्म है। अन्यत्र रसों का वर्णन करते समय, कन्द में कटूरस, पत्र में विक्तरस, नाल में कषाय रस, नालके अग्रभाग में लवण रस और वीज में मधुर रस का होना बताया है। इसमें अम्लरस नही पाया जाता है। एक रस न्यून होने के कारण रसोन कहा गया है प्रायः वायु के कारण ही दोषों की गति होती हैं। रसोन परम वातनाशक है। वायु की गति सम्यक रूप से हो जाने से प्रायः सभी रोग शान्त होते हैं इसलिए इसकी विशेष महता बतलाई गयी है। यह अधिक उष्ण और तीख्ण होता है इसलिए पित वर्द्धक है तथा पित्त रोगों में इसका प्रयोग नहीं किया जाता है। भावमिश्र ने निम्नलिखित रोगों से इसका प्रयोग बताया है यथा–

हृद्रोगजीर्ण ज्वर कुक्षिशूलविबन्ध गुल्मारूचि कासशोफान्। दुर्नाम कुष्ठानलसादजन्तु समीरणश्वास कफांश्च हन्ति।।

इस प्रकार इसका प्रयोग बताते हुए इसके सेवन काल में पथ्य और अपथ्य का भी निर्देश किया है यथा– मद्यं मांस तथा•म्लच्च हितं लशुन सेविनाम्।

व्यायाममातपं रोषमति नीरं पयो गुडम्। रसोनमश्नन्पुषस्त्यजेदेतान्निरन्तरम्

पलाण्डुस्तद्गुणान्यूनः श्लेष्मलो नातिपित्तलं। कफवातर्शसां पथ्यः स्वेदे •भ्यवहृतौ तथा।।

अर्थ : प्याज का गुण–यह रसोन से गुणों में कुछ हीन होता है। कफ वर्धक और पित्त को अधिक रूप में नहीं बढ़ाता है। कफ और वातजन्य अर्शविकार में यह स्वेदन और भक्षण से लाभकर होता है।
विश्लेषण : प्याज प्रायः लशुन के समान ही गुण वाला होता है। रसोन पित्त वर्द्धक है पलाण्डु पित्त को अधिक नहीं बढ़ाता हैं अर्थात् कुछ हल्के रूप में बढ़ाता है लहसुन कफ को नहीं बढ़ाता है किन्तु प्याज कफ वर्द्धक है। भक्षण करने से अथवा अर्श के मस्से पर गर्म लेप करने पर लाभकर होता है। भाव मिश्र ने इसके गुणों का निर्देश करते हुए बताया है कि यह केवल वात नाशक है व्यवहार में

''स्वादुः पाके रसेऽनुष्णः कफ कृन्नातिपित्तलः। हरते केवलं वातं बल वीर्य करोगुरूः।।''
अर्थ : इसका शाक अधिक रूप में प्रयुक्त होता है। विसूचिका में इसका स्वरस पिलाया जाता है। अंशुधात में इसका कल्क हाथ पैर एवं शिर पर मला जाता है साथ में लेकर चलने से अंशुघात (लु) लगने का भय नहीं रहता है यद्यपि इन गुणों का निर्देश पुस्तकों में नहीं पाया जाता किन्तु इसका प्रयोग प्रत्यक्ष रूप में लाभकर होता है क्योंकि यह कफ वर्द्धक है, रस विपाक में मधुर है इसलिए सूर्य संताप का रोधक है तथा पाचन बलवर्द्धक होने के कारण एवं अपने विशेष प्रभाव से विसूचिका को दूर करता है।

तीक्ष्णो गज्जनको ग्राही पित्तिनांहितकृन्न सः। दीपनः सूरणो रूच्यः कफध्नो विशदो लघुः।। विशेषादर्शसां पथ्यः– –भूकन्दस्त्वतिदोषलः।

अर्थ : गाजर का गुण–गाजर तीक्ष्ण ग्राही और पित्त प्रकृति के व्यक्तियों के लिए हितकारी नहीं होता है, सूरन कन्द–अग्निदीपक, रूचिकारक, कफनाशक, विशद्, लघु एवं विशेष रूप से अर्श के रोगों के लिए हितकर होता है। भूकन्द–यह त्रिदोष प्रकोपक हैं।
विश्लेषण : गुज्जन को गाजर कहते है, पर ऊपर जिन गुणों का वर्णन किया गया है वह गाजर में नहीं पाया जाता वह मृदु और वीर्य में शीतल होता है और पित विकार में लाभकर देख जाता है। हेमाद्री ने प्याज के समान इसका स्वरूप बताया है।

''गन्धाकृति रसैस्तुल्यौ गृज्जनस्तु पलाण्डुना। सूक्ष्मनालाग्र पत्रत्वात् भिद्यते •सौ पलाण्डुना।।''

अर्थ : पत्ती का आकार सूक्ष्म होने से अलग माना है। प्रायः प्याज रक्त वर्ण का होता है। दूसरा प्याज श्वेत वर्ण का होता है। श्वेत वर्ण का प्याज अधिक तीक्ष्ण और अधिक उष्ण होता है। सम्भवतः यह श्वेत पलाण्डु का वाचक हैं। इसका प्रयोग वात कफज अर्श में स्वेदन और भक्षण के काम में आता है। विशेषकर ध्वजभंग में इसके स्वरस का मर्दन करने से लिंग में शक्ति शीघ्र आ जाती है। भूकन्द का गुण अति दोषल बताया गया है। भूकन्द को जिमिकन्द कहते है। सामान्यतः यह शब्द सूरन के लिए प्रयुक्त होता है। सूरन के दो प्रकार पाये जाते हैं एक वह जिसमें कन्द के ऊपर ठोढी पायी जाती है और उसके रस का हाथ या त्वचा पर स्पर्श हो जाय तो तीव्र कण्डू हो जाती है। यदि उसका शाक खाया जाय तो मूख में कडू एवं काटने से पीड़ा होती है। दूसरा गोला चिकना और आकार में बड़ा पाया जाता है। यह न कण्डू उत्पन्न करता है और न इसका श ाक मुख या गले को काटता है। सूरण से बड़ा आकार वाला और भूकन्द से छोटा और ठोठी वाला का ग्रहण किया जा सकता है।

पत्रे पुष्पे फले नाले कन्दे च गुरूता क्रमात्।।

अर्थ : यहाँ शाक वर्ग का उल्लेख करते हुए पत्र, पुष्प, फल, नाल और कन्द इन पांच प्रकार के शाकों का व र्णन किया गया है। इसमें पत्र से पुष्प, पुष्प से फल, फल से नाल, नाल से कन्द, को भारी बताया है।

विश्लेषण : भाव मिश्र ने–*पत्रं पुष्पं फलंनालं कन्दं संस्वेदजं तथा शाकंषड् विधमुद्दिष्टं गुरूविद्यात् यथोतरम्।* से छः प्रकार के शाकों का वर्णन किया गया है। भूककन्द का ऊपर जो निर्देश किया गया है सम्भवतः उसे संस्वेदज ही माना है। वर्षा ऋतु में जब भूमि से कुकुरमुते निकलते हैं तो उसका ही ग्रहण किया है। सर्वांगं सुन्दरी तथा पदार्थ चन्द्रिका टीका में *स्फोटाख्यः प्राविड़्उद्‌भवः* हेमाद्रि में भूस्फोटः से स्पष्ट प्रती त होता है कि वह कुकुरमुत्ते को ही भूकन्द से ग्रहण करते हैं। भाव मिश्र ने छठाँ नाम संस्वेदज का लिया है और उसे सबसे गरिष्ठ माना है और यहां उसे अति दोषल कहा गया है। संस्वेदज अधिक निन्दित है अतः उसे अग्राहय बताते हुए शाक के पांच ही भेदों का उल्लेख किया है। यहाँ उतरोतर शाकों में गुरू होने का जो निर्देश किया गया है वह प्रायोवाद है क्योंकि मूली भी एक कन्द है किन्तु वह लघु होती है।

वरा शाकेषु जीवन्ती सार्षपं त्ववरं परम्।

पत्र शाकों में सबसे उत्तम शाक जीवन्ती और सरसो का शाक सबसे हीन गुण वाला माना जाता है।

विश्लेषण : इसके पूर्व पत्र, पुष्प, फल, नाल, कन्द इन पांच शाको का वर्णन किया गया है उन पाँचो में पत्र शाक सर्वोच्च माना है और पत्र शाकों में भी जीवन्ती को उतम माना है और सरसों के शाक को सबसे अधम माना गया है सुश्रुत में उतम शाकों का निर्देश इस प्रकार किया है–

'सतीनो वास्तुकश्च्चुश्चिल्ली मूलकपोतिका। मण्डूकपर्णी जीवन्ति शाक वर्गेषु शस्यते।।''

अर्थ : इनमें मटर की पत्ती, बथुवा, चेचुँ, मूली, चिल्ली मण्डूक पर्णी जीवन्ती का निर्देश है। इनमें सामान्यतः मटर को पत्ती बथुवा, मुली यह व्यवहार में आते है। और इनमें बथुआ और मूली दो उतम माने जाते है। मटर की पती का शाक भी व्यवहार में आता है किन्तु विष्टम्भी होती है अतः उसका प्रयोग उतम नहीं माना जाता। मण्डूकपर्णी जीवन्ति इसका शाक उतम है पर व्यवहार में नही आता चिल्ली वथुआ का ही एक भेद है जो वथुवे के समान पत्ती ईषद लाल वर्ण की होती है चेचुँ का शाक भी व्यवहार में आता है पर वह स्वाद हीन वात वर्द्धक होता है।

अर्थ फलवर्गः।

द्राक्षा फलोत्तमावृव्याचक्षुष्या सृष्टमूत्रविट्।। स्वादुपा करसा स्निग्धा सकषाया हिमा गुरूः।
निहन्त्यनिलपित्तास्रतिक्तास्यत्वमदात्ययान्।। तृष्णाकासश्रमश्वासस्वरभेदक्षतक्षयान्।

अर्थ : द्रक्षा अर्थात अंगूर यह फलों में उतम बाजीकर, नेत्र के लिए हितकारी मल मूत्र निःसारक रस और विपाक में मधुर स्निग्ध कुछ कषैला शीतल और गुरू होती है। वायु, पित्त और रक्त विकार मुख का कडु वापन मदाव्यय रोग तृष्णा, कास श्रम श्वास स्वर भेद उरक्षत और क्षय रोग को दूर करती है।
विश्लेषण : चरक ने इसे उदावर्त रोग नाशक और मुख शोषनाशक अधिक माना है जैसा कि–

'तष्णादाहज्वरश्वासस्क्तपित क्षतक्षयान्। वातपित्तमुदावर्त स्वरभेदं मदात्ययम्।। तिक्तास्यतामास्यशोष ं कासं चाशु व्यपोहति। मृद्बीका वृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला।।
अर्थ : यह एक लता में लगने वाला फल है यह छोटे और बड़े दो प्रकार के फल होते है। बड़े में बीज और छोटे में बीज नहीं होते जब ये पक जाते है तो उनके फलों को जल में उबालकर सुखाया जाता है जो बीज वाले बड़े फल होते हैं उसे मुनन्का और जो छोटे निर्विज होते हैं उसे दाख या किशमिश कहते है। हरे पके हुए फल को अंगूर कहते है। प्रायः कच्चे अवस्था में ये खट्टे होते है और यदि विना उबाले सुखाया जाय तो सड़ जाते हैं।

उद्रिक्तपित्ताच्जयति त्रोन्दोषान्स्वादु दाडिमम्।। पित्ताविरोधि नात्युष्णमम्लं वातकफापहम्। सर्व हृद्यं लघु स्निग्धं ग्राहि रोचनदीपनम्।
अर्थ : मीठा अनार बढ़े हुए पित्त के साथ वात और कफ दोष को दूर करता है। खट्टा अनार–यह पित्त के लिए अविरोधि अर्थात् पित को न कुपित करता है न शान्त करता है। अधिक उष्ण नहीं है अर्थात् उष्ण वीर्य जनित कार्य को नहीं करता और वात कफ शामक होता है सभी प्रकार के अनार हृदय के लिए हितकर लघु स्निग्ध ग्राही (अतीसार रोधक) भोजन में रूचि उत्पन्न करने व ाला और अग्नि का दीपक होता है।
विश्लेषण : अनार के अनेक भेद होते हैं सामान्यतः पकने पर लाल दाने वाले क्षौर सफेद दाने वाले। सफेद दाने वाले को बीदाना कहते है। यह लाल दाने वाले की अपेक्षा अधिक गुण करने वाला होता है। चरक ने अनार को अम्ल, कषाय, और मधुर बताया है। दूसरे अनार को रूक्ष अम्ल बताकर पित्त और वायु को प्रवुत करने वाला बताया और जो मधुर अनार ह ोता है उसे पित्त नाशक बताया है इस प्रकार अम्ल कषाय मधुर रस युक्त अनार को कफ और पित्त के अविरोधि अर्थात् न इन्हें कुपित करता है न शम, खट्टा अनार पित्त और वायु को कुपित करता है। मधुर अनार पित्त शामक होता है इस प्रकार तीन भेद करते हुए प्रथम अनार को उत्त म बताया है यथा–

'अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राही दीपनम्। स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफपित्ताविरोधि च।।
रूक्षाम्ल दाडिमं यतु तत्पित्तानिल कोपनम्। मधुरं पित्तनुत्तेषापूर्व दाडिभमुत्तमम्।।

केला आदि फलों का गुण

मोचखर्जूरपनसनारिकेरपरूषकम् आम्रात ताल काश्मर्यराजाद नमधूकजम।। सोवीरबदराणोल्लफल्गुश्लेष्मातकोद्भवम्। वातामाभिषुकाक्षोडमुकूलककनिकोचकम्। उरूमाणं प्रियालं च बृंहणं गुरू शीतलम्। दाहक्षतक्षयहरं रक्तपित्तप्रसादनम्। स्वादुपाकरसं स्निग्धं विष्टम्भि कफशुक्रकृत्।

1–केला, खजूर, कटहल, नारियल, फालसा, आमड़ा, ताल गम्भार का फल, खीरनी, महुआ का फल, सौवीर (बड़ी बेर) वदर (छोटी बेर) अंकोल (ढ़ेरा का फल) फल्गु (गुलर का फल) श्लेष्मातक (लिसोरा का फल) बादाम, अभिषुक (पिस्ता) अखरोट, मुकुलक चिरगोजा, निकोचक, उरूमाड़ (खुरमानी) और चिरौंजी ये सभी फल वृंहण, गुरू शीतल, दाह उरक्षत, क्षयरोग की दूर करते है तथा रक्त और पित्त को स्वच्छ, करते है रस और विपाक में मधुर स्निग्ध विष्टम्भि और कफ और शुक्र को उत्पन्न करते है।
विश्लेषण : यहाँ इन फलों का सामान्य गुण एकत्र लिखा गया पर अन्यत्र भिन्न–भिन्न गुण जैसे सुश्रुत ने महुए के फूल का गुण वृंहण अहद्य, गुरू बताते हुए फल को वात पित्त शामक बताया है। सौवीर और वदर यहाँ वेर के दो ही भेद का उल्लेख है किन्तु वेर कि पाँच जातिया सुश्रुत ने बताया– *कर्कन्धु बदरं कोल*

सौवीरं सीचातिफल्म। यथोत्तरं महत्स्वादू पंचधा वदरी फलम्।। पुरातनं तृट् शमनं श्रमघ्नं दीपनं लघु। यहाँ सौवीर के समान यह बदर का उल्लेख किया गया है। कोल और कर्कन्धुस्वादु न होकर अम्ल होता है। सिंचिका फल तिक्त होने के कारण यहां उसका उल्लेख नहीं किया गया है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि सुश्रुत ने भी आगे सौवीर वदर स्निग्ध मधुरं वातषितजित् सौवीर और वदर को समान गुण बताया हैं, कच्चे, पके और पुराने कर्कन्धु कोल, और वदर का गुण ऊपर बताकर समान गुण निर्देश दुसरे वाक्य से किया है, सौवीर और वदर में द्वन्द्व समास कर ए क वचन का प्रयोग किया गया है। सौवीर यह वदर का विशेषण मानना ठीक नहीं है क्योंकि सौवीर का अलग पाठ है।

फलं तु पित्तलं तालं सरं काश्मर्यजं हिमम्। शकन्मूत्रबिबन्धघ्नं केश्यं मेध्यं रसायनम्। वातामाद्युष्णवीर्यं तु कफपित्तकरं सरम्।

पर वातहर स्निग्धम्– अनुष्णं तु प्रियालजम् ।

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः।। कोलमज्जा गुणैस्तद्वत्तृट्छर्दिःकासजिच्च सः।

अर्थ : ताल आदि फलों का गुण–ताल अर्थात ताड़ का फल पित्त को उत्पन्न करता है।
गम्भार के फल का गुण–गम्भार का फल– वीर्य में शीतल मल और मूत्र का विबन्ध दूर करता है, केश के लिए हितकर (क्रिमिघ्न), मेधा वर्द्धक और रसायन है। बादाम का गुण–यह वीर्य में उष्ण कफ और पित्त वर्धक तथा सारक होता है। यह परं वात हर और स्निग्ध होता है। प्रियाल (चिरौजी) का गुण–यह वीर्य में अनुष्ण अर्थात् वीर्य में शीत होती है चिरौंजी की मज्जा रस में मधुर वृष्य और पित्त और वायु को दूर करता है।
बेर की मज्जा का गुण–बेर की मज्जा चिरौंजी के समान होती है विशेष कर तृष्णा वमन अ ौर कास रोग को दूर करता है।
विश्लेषण : यहाँ ताल आदि फलों का गुण बताया गया है सुश्रुत ने ताल के फल का पित्त शामक होना बताया है इस विरूद्ध वचन से यहाँ कच्चे ताल फल का गुण और सुश्रुत का निर्देश पके हुए ताल फल के गुण से है चरक ने–
ताल सस्यानि सिद्धानि नारि केर फलानि च। वृहणं स्निग्ध शीतानि वल्यानि मधुराणि च।।
सिद्धानि का व्याख्या करते हुए वाष्य च न्द्र ने पक्वानि यह व्याख्या किया है मधुर स्निग्ध शीत होने से वाःपित्त शामक कफ वर्धक पका हुआ फल होता है। इन वचनों से कच्चे फल का गुण पित्त वर्द्धक माना जाता है। यहाँ वातामादि से बादाम, पिस्ता, चिलगोजा आदि के मज्जा का गुण निर्देश समझना चाहिए।

पक्वं सुदुर्जरं बिल्बं दोषलं पूतिमारूतम्। दीपनं कफवातघ्नं बालं ग्राह्युमयं च तत्।
बेल–पका हुआ बेल पचने में भारी वात पित्त कफ वर्द्धक और अपान वायु को दुर्गन्ध के साथ निकलता है।
कच्चा बेल अग्नि दीपक कफ और वात निःशक होता है तथा कच्चा और पका दोनों ग्राही अर्थात् मल मूत्र को रोकने वाले होते हैं।
विश्लेषण : सामान्यतः सभी फल पकने पर अधिक गुण करते हैं किन्तु बेल का फल कच्चा ही गुणकारक होता है बताया भी है–

फलेषु परिपक्वं यत् गुणवत्तदुदाहतम्। विल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणाधिकम्।।

अर्थ : प्रायः कच्चे बेल का आग में पकाकर खान का विधान है प्रवाहिका में इसका प्रयोग अधिक होता है इसी दृष्टि से प्रवाहिका रोग में बेल के मुरब्बे का प्रयोग किया जाता है। सुश्रुत ने कच्चे वेल का कटु, तिक्त, कषाय और उषण माना है। पके हुए बेल को मधुरानुरस गुण विदाही विष्ठम्भि विशे ष माना है। गर्मी के दिनों में बेल के शर्बत पीने का विशेष विधान है मधुर विल्व मधुर शर्करा से मिलकर शीत वीर्य हो जाता है अतः वह दाह प्रशामक होता है यदि गाढ़े शर्बत को पीया जाय तो वह भूख को बन्द कर देता है और मल मूत्र में रूकावट करता है यदि पतला बनाकर पिया जाय तो लाभकर होता है यदि पका खा लिया जाय तो अग्नि मन्द हो जाती है।

कपित्थमामं कण्ठघ्नं दोषलं, दोषघाति तु।। पक्वं हिघ्मावमथुजित्, सर्वंग्राहि विषापह्म्।

अर्थ : कैत के फल का गुण–कैत का कच्चा फल कण्ठ के लिए हानिकर अर्थात् स्वरभेद उत्पन्न करता है सभ ी दोषों को बढ़ाता है किन्तु पका कैत प्रबल दोषों का शामक हिक्का और वमन को नष्ट करता है और कच्चा और पका दोनों फल ग्राही और विष को दूर करने वाला होता है।

जाम्बवं गुरू विष्टम्भि शीतलं भृशवातलम्। सङ्णाहि मूत्रशकृतोरकण्ठ्यं कफपित्तजित्।।

अर्थ : जामुन के फल का गुण–जामुन का फल गुरू विष्टम्भी शीतल और अधिक रूप में वायु को बढ़ाता है। मूत्र और मल को संग्रह करता है कण्ठ के लिए हानिकारक कफ और व ायु को दूर करने वाला होता है।

विश्लेषण : जामुन दो प्रकार की होती है फरेन और कठजामुन, फरेन में गुद्दा ज्यादा होता है बीज छोटा। और कठजामुन में गुद्दा कम और बीज बड़ा, गुण में दोनो समान होता है। यह पचने में भारी होता है इसके बीज का चूर्ण वहुमूत्र और मधुमेह में अधिक लाभकर होता है जामुन के फल के रस से बनाया हुआ सिरका उदर शूल में विशेष लाभकर होता है और मल निःसारक होता है जामुन के फल का चूर्ण वहुमूत्र को रोकता है किन्तु मल पर इसका प्रभाव नहीं होता यह रस में कषाय होता है यही कारण है कि इसके फल सेवन से स्वर भेद कारक और बीज चूर्ण का सेवन करने से बहुमूत्र में लाभ होता है।

वातपित्तास्त्रकृद्‌बाल, बद्धास्थिकफपित्तकृत्। गुर्वाभ्रं वातजित्पक्वं स्वाद्वम्लं कफशुक्रकृत्।।

अर्थ : आम के फल का गुण–कच्चा आम जिसमें गुठली न पड़ी हो वह वात, पित्त और रक्त को दूषित करने वाला होता है। गुठली पड़ जाने पर कच्चा आम कफ और पित्त को दूषित करता है। पका हुआ मीठा आम गुरू और वातनाशक होता है। पका हुआ खट्टा आम कफ और शुक्रवर्द्धक होता है।

विश्लेषण : आम एक विशेष व्यवहार में आने वाला फल है। टिकोरे की चटनी कच्चावस्था मे अचार और पकावस्था में रस चूसा जात ा है आम में उतम गुण वर्तमान है वह चूसने से ही होते है बल वृद्धि की दृष्टि से मीठा आम का रसदूध के साथ या रस पीने के बाद दूध पिया जाय तो अधिक लाभकर होता है। इसके गुण का विशेष निर्देश करते हुए कहा है–

'सहकार रसोहृद्यःसुरभिः स्निग्ध रोचनः।'

वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्महरं लघु। शम्या गुरूष्णं केशध्नं रूक्षम्–

पोलु तु पित्तलम्। कफवातहरं भेदि प्लीहार्शःकृमिगुल्मनुत्।

सतिक्त स्वादु यत्पोलु नात्युष्णं तत्त्रिदोषजित्।

अर्थ : वृक्षाम्ल के फल का गुण– यह ग्राही रूक्ष उष्ण वात कफ नाशक एवं लघु होता है। शमी के फल का गुण–यह गुरू उष्ण रूक्ष और बालों को नष्ट करने वाला होता है। पीलू के फल का गुण–यह पित्त कारक कफ वातनाशक मल का भेदन करने वाला प्लीहा वृद्धि अर्श उदर कृमि और गुल्म रोग को नष्ट करता है जो पीलू का फल कुछ तिक्त और मधुर होता है वह अधिक उष्ण नहीं हो ता तथा त्रिदोष नाशक होता है।

विश्लेषण : वृक्षाम्ल यह बजारों में छोटे–छोटे मरिच के समान दाने वाला मिलता है इसे विषामिल कहते है कुछ लोग वृक्षाम्ल से आलू वोखारा लेते है और कुछ लोग तिन्तिडिक कह ते है इस प्रकार यह द्रव्य संदिग्ध रूप में है। शमी और पीलू यह दोनों फल प्राप्त होते हैं किन्तु इसका प्रयोग व्यवहार में अल्प दिखाई पड़ता शमी की लकड़ी यज्ञ कार्य में आता है संभवतः इसके फल को पीसकर लेप करने से बाल उड़ जाते हैं इसीलिए इसे केशध्न बताया है। पील ू एक तापस वृक्ष है जो जंगलों में पाया जाता है और इसका फल मीठा होता है इसे तपस्वी और वनवासी भक्षण करते हैं। कालीदास के शकुन्तला नाटक में इसका वर्णन पाया जाता है। तथा *पिलु वृक्षः तत्फलं च पिलुःसिद्धान्तकौमुदी* व्याकरण ग्रन्थ में भी कहा है।

त्वक्तिक्तकटुका स्निग्धा मातुलुगंस्य वातजित्। बहृणं मधुरं मांस वातपित्तहर गुरू।

लघु तत्केशर कासश्वासहिध्मामदात्ययान्।। आस्यशोषानलश्लेष्मविबन्धच्छर्द्यरोचकान्।
गुल्मोदराशंशूलानिमन्दाग्नित्वं च नाशयेत्।।

अर्थ : भातुलुगं नीबू के फल का गणु–फल का छिलका रस में तिक्त और कटु तथा स्निग्ध और वातनाशक होता है। फल का गुद्दा बृहणं रस में मधुर वात पित्तशामक और गुरू होता है, फल का केशर (यवा) यह लघु कास श्वास हिक्का मदात्यय मुखशोष वात और कफ जन्य रोग विवन्ध बमन अरोचक गुल्म उदर रोग अर्श उदर शूल और मन्दाग्नि रोग को नष्ट करता है।

विश्लेषण : आयुर्वेद में मातुलुगं (विजौरा) नीबू का विशेष गुण बताया गया है और अम्ल होते हुए प्रत्येक कास में लाभकारी होता है प्रयोग में रस का ही व्यवहार होता है पर छिलका गुद्दा और केशर, जटा के पृथक पृथक गुणों का वर्णन यहां किया गया है वर्तमान समय में कागजी नीबू का प्रचार इतना हो गया है कि आजकल विजौरा नींबू प्राप्त नहीं होता और प्रत्येक कार्य में कागजी नीबू का ही प्रयोग होता है जो मातुलुगं नीबू के समान ही होता है पर प्लीहा आदि रोगों में इसका प्रभाव दृष्टि गोचर नहीं होता इसी प्रकार मोतीया बिन्द में केवल बीजौरे नींबू के रस में सात भावना देकर बनाये हुए काले सुरमा का अंजन लाभ करता है और इनसे मोतीया बिन्द प्रारम्भिक अवस्था में रूक जाता है किन्तु कागजी नींबू के रस में यह बनाया जाय तो लाभ नहीं करता यह अनुभव सिद्ध हैं।

भल्लातकस्य त्वगंमांसं बृंहणं स्वादु शीतलम्। तदस्थ्यग्निसमं मेध्यं कफवातहरं परम्।।

अर्थ : भिलावे का गुण–भिलावे का छ़िलका और मांस (गुदा) यह दोनों बृंहण स्वादु एवं शीतल होते हैं तथा भिलावे की गुठली अग्नि के समान तीक्ष्ण एवं फफोले उत्पन्न करने वाला होता है। मेधावर्धक कफ और वायु को दूर करने में उतम होता है।

विश्लेषण : भिलावा एक फल है जो गोलेकार हरे वर्ण का होता है फल के पकने पर उसके गुर्दे खाये जाते हैं। वह बलवध्रक मधुर एवं अधिक शीतल होता है यद्यपि उसके छिलके प्रयोग में नहीं लाये जाते है पर वह भी बलवध्रक है। फल के भीतर गुठली होती है जो कुछ कृष्ण एव रक्तवर्ण का होता है। इसके भीतर तेल होता है। यह अधिक उष्ण होता है यदि तेल का स्पर्श त्वचा से हो जाय तो अधिक जलन के साथ–साथ फुन्सियाँ हो जाती है जिससे भयानक खुजली होती है कभी–कभी फफोले पड़ जाते हैं। गरी के तेल लगाने से उपद्रवो की शान्ति होती है गुठली के भीतरी भाग में मज्जा होती है। जे वृष्ण और बलवर्धक होता है। एक किलो एरण्ड तैल में 10 भिलावा पकाकर लगाने से सभी प्रकार के वात रोग में विशेष लाभ होता है। चरक ने भल्लातक को उत्तम रसायन माना है विशेषकर कफज सभी रोगों में इसका प्रयोग सर्वोत्तम माना है यथा–

कफजो न स रोगोऽस्तिः न विवन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लतकं हन्यात् शीघ्रं मेधाग्निवर्धनः।। स्वाद्वम्ल शीतमुष्णंच द्विधा पालेवतं गुरू।
रूच्यमत्यग्निशमनम्रूच्यं मधुरमारूकम्।। पक्वमाशु जरां याति नात्युणगुरूदोषलम्।

अर्थ : पालवत (हरपरौरी या हरफारबड़ी) का गुण–पालवत दो प्रकार का होता है।
1–मधुर एवं शीतल 2–अम्ल एवं उष्ण। दोनों पालेवत गुरूः रूचिवर्धक तीक्ष्णाग्नि (भस्मक रोग) को शान्त करने वाला होता है। आरूक (आडू) का गुण–यह भोजन में रूचि उत्पन्न करने वाला और रस में मधुर होता है। पालिवत और आडू यह दोनों का फल पक जाता है तो इसका पाक शीघ्र ही हो जाता है। यह अधिक उष्ण वीर्य नहीं होता है पर गुरू और वातादि दोष को बढ़ाने वाला होता है।

विश्लेषण : पालिवत एवं आरूक को व्यवहार में हर परौरी और आडू कहते हैं यह दोनों मधुर एवं अम्ल दो प्रकार के होते हैं। मधुर जो होता हैं यह दोनों मधुर एवं अम्ल दो प्रकार के होते हैं। मधुर जो होता है वह शीतल एवं गुरू होता है इसलिए भस्मक रोग में बढ़े हुए जठराग्नि को शान्त करता है और जो अम्ल, उष्ण होता है उसका प्रभाव भस्मक रोग में नहीं होता है। कच्चे फल को पीसकर चटनी बनाकर खाया जाता है, पका हुआ फल किचिंत गरम होता है और उसका पाचन बहुत शीघ्र होता है तथा वातादि दोषों को बढ़ाता है इस लिए कच्चे फल अधिक गुणकारी और पके फल दोषवर्धक होते हैं।

द्राक्षापरूषकं चार्द्रमम्लं पित्तकफप्रदम्। गुरूष्णवीर्य वातघ्नं सरं च करमर्दकम्। तथा •म्लं कोलकर्कन्धुलकुचाम्रातकारूकम्।
ऐरावतं दन्तशठं सतूदं मृगलिण्डिकम्। नातिपित्तकरं पक्वं शुष्कं च करमर्दकम्।। दीपनं भेदनं शुष्कमम्लोकाकोलयोः फलम्। तुष्णाश्रमक्लमच्छेदि लध्विष्टं कफवातयोः। फलानामवरं तत्र लकुचं सर्वदोषकृत्।।

अर्थ : द्राक्षा (मुनक्का) परूषक (फालसा) करमर्दक (करौंदी) ये तीनों फल यदि गीले लिए जायें अर्थात् पके न हो तो इनका सेवन करने पर रस में अम्ल, पित्त और कफ उत्पादक गुरू, वीर्य में उष्ण, वातनाशक और मल निःसारक होते हैं। कोल, (छोटी बेर) कर्कन्धु (बड़ी बेर) लकुच (बड़हर) आम्रात (आमाड़ा) आरूक (आडू) ऐरावत (नारगं) दन्तशठ (बिजौरा नीबू) तूद (सहतूत) मृगलिण्डिका (इमली) और करमर्द ये पके हुये शुष्क, पित्त का ` अधिक रूप में नहीं बढ़ाते हैं। पके और शुष्क इमली और छोटी बेर अग्निदीपक भेदक, तृष्णा, श्रम, क्लम नाशक, कफ को काटकर बाहर करने वाले लघु एवं कफ पित्त के लिए पथ्य होते ह ैं फलों में बड़हर सबसे हीन और त्रिदोष प्रकोपक होता है।
विश्लेषण : यहाँ अम्ल फलों का गुण बताया गया है किन्तु उनके अपक्व फल और शुष्क फल का गुण भिन्न–भिन्न बताया है मुनक्का अपक्व खट्टा होता है किन्तु पकने पर वह मधुर विपाक और रस में भी मधुर होता है इसलिए पित्त और कफवर्धक नहीं होता है फालसा अपक्व अधिक अम्ल होता है और पित्त को उत्पन्न करता है। पकने पर मधुर एवं वातपित शामक होता है। इस प्रकार जो फल पकने पर भी अपनी अम्लता को नहीं छोड़ता है वह पित का ` उत्पन्न करता है किन्तु मुनक्का और करौदा अम्ल होते हुए अधिक पित्त को उत्पन्न नहीं करता। लकुच सभी अवस्था में हानिकर ही होता है इसलिए फलों में सबसे निकुष्ट बड़हर को माना है।

हिमानलोणादुर्वातव्याललाला९९दिदूषितम्।। जन्तुजुष्टं जले मग्नमभूमिजमनार्तवम्। अन्यधान्ययुतं होनवीर्य जीर्णतया९ति च।।
धान्यं त्यजेतथा शाकं रूक्षसिद्धमकोमलम्। असज्जातरसं तद्वचछ्ष्कं चान्यत्र मूलकात्।। प्रायेण फलमप्येवं तथा९९मं बिल्ववर्जितम्।
अर्थ : दूषित अभक्ष्य फल औरर शाक– जो फल या धान्य हिम (बर्फ) के लगने से विकृत हो गये हैं, तीव्र वायु के लगने से, तीव्र सूर्य किरण से, अग्नि के ताप से, दूषित वायु से, व्याल (सांप) आदि विषैले जीव के लाला से दूषित हो गये हो या सड़े हुए जीव जन्तुओं से दूषित हो गये हों, मल मूत्र के लगने से दूषित हों तथा कृमि लग जाने से जल में डूबे रहने से दूषित है। गन्दी भूमि में उत्पन्न हों (अर्थात जिस धान्य के लिए जो भूमि उचित न हो उस भूमि में उत्पन्न हो एवं प्राकृतिक उत्पन्न होने के समय से भिन्न ऋतुयों में उत्पन्न हों अन्य विजातीय धान्य से युक्त हों जिनका हीन वीर्य हो अधिक पुराना हो ऐसे धान्यों काा सेवन नहीं करना चाहिए। कोई भी शाक बिना तेल या घृत के बनाये हो अथ ति रूक्ष सिद्ध हों या अधिक कठोर रूढ़ हो गये हो उनका सेवन, तथा जिन शाकों में पूर्ण रूप से उसके रस न आ गये हों अर्थात अभी बाल्यवस्था में हों तो उसका सेवन नहीं करना चाहिए तथा जो शाक सूख गये हों उनका भी सेवन नहीं करना चाहिए किन्तु मूली का सूखा शाक खान योग्य होता है। इसी प्रकार उपर्युक्त दोषों से युक्त फलों का सेवन भी नहीं करना चाहिए किन्तु फलों में बेल कच्चा और सूख ाा लेने का विधान बताया गया है।
विश्लेषण : पुराना धान्य शाक और फलों का सेवन निषेध किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि इनका सेवन शारीरिक बल शक्ति बढ़ाने के लिए किया जाता है धान्य एक वर्ष के पुराने सेवन क रने योग्य होते हैं किन्तु अधिक पुराने होने पर वह अपने वीर्य को छोड़ देते हैं। और अधिक लघु सुपाच्य होते है इसलिए रोगी व्यक्तियों के लिए जिनकी अग्नि मन्द हो जाती है उनके लिए लाभकर होता है स्वस्थ व्यक्ति यदि उनका सेवन करे तो शीघ्र ही उसका पाचन होकर मल बन जाता है उससे शक्ति का सम्पादन नहीं होता शाक सर्वथा पुराने होने पर दोष कारक होता है। किन्तु मुली का शाक सूखने पर भी खाया जाता है सभी फल पकने पर गुणदायी होते है। किन्तु बेल कच्चा और सूखा विशेष गुणकारी होता है बताया भी है–

''फलेषु परिपक्वं य त् गुणवत् तदुदाहृतं'' यह निषेध वचन प्रायीवाद है। क्योंकि विभिन्न शाक को इन दोषों से दूषित होने पर भी लिया जाता है जैसे कमल नाल, करेमू का साग यह जल में डूबे रहते हैं गूलर का फल उसमें कृमियाँ होती है और उनका सेवन किया जाता है।

अथलवरणवर्गः

विष्यन्दि लवणं सर्व सूक्ष्मं सृष्टमलं मृदु।। वातघ्नं पाकि तीक्ष्णोष्णं रोचनं कफपित्तनुत्।

अर्थ : सभी प्रकार के नमक विष्यन्दी सूक्ष्म, मूत्र पुरीष निःसारक, वात नाशक, अन्न औ व्रण आदि को पकाने वाला, तीक्ष्ण, उष्ण, वीर्य होते है तथा भोजन में रूचिकारक और कफ एवं पित्त को दूर करता है।

सैन्धवं तत्र सुस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्।। लध्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम्। लघु सौवर्चलं हृद्यं सुगन्ध्युद्गारशोधनम्।। कटुपाकं विबन्धघ्नं दीपनीयं रूचिप्रदम्। ऊर्ध्वाधःकफवातानुलोमनं दीपनं बिडम्।। विबन्धानाहविष्टम्भशूलगौरवनाशनन्। विपाके स्वादु सामुद्रं गुरू श्लेष्मविवर्धनम्।। सतिक्तकटुकक्षारं तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम्। कृष्णे सौवर्चलगुणा लवणे गन्धवर्जितजाः। रोमक लघु, पांसूत्थं सक्षारं श्लेष्मलं गुरू। लवणानां प्रयोगे तु सैन्धवादि प्रयोजयेत्।।

अर्थ : सेधा नमक–सभी नमको में सेंधा नमक मधुर, वृष्य, हृदय के लिए हितकारी, त्रिदोष शामक, लघु, कुछ उष्ण, नेत्र के लिए पथ्य, अविदाही अग्नि दीपक होता है।

सोंचर नमक–यह लघु हृदय के लिए हितकर, सुगन्धि, उद्‌गार शोधक, विपाक में कटु, विबन्ध नाशक, अग्नि प्रदीपक, और भोजन में रूचि उत्पन्न करता है।

विड् नमक–यह ऊर्ध्व और अधोम ाग से कफ एवं वायु का अनुलोमन करता है अर्थात् जिस वायु का निकलने का जो प्राकृतिक मार्ग है उससे निकलने की प्रेरणा देता है अग्निदीपक विबन्ध आनाह विष्टम्भ उदर शूल और शरीर के भारीपन को दूर करता है। सामुद्र नमक–यह विपाक में मधुर गुरू और कफ का वर्धक है।

उद्भिद् नमक–यह रस में तिक्त कटु और क्षार से युक्त होता है। तीक्ष्ण और उत्क्लेद अर्थात दोषें को उभारने वाला होता है। काला नमक–यह सोंचर नमक के समान गुणकारी होता है किन्तु इसमें सुगन्धि नहीं रहती है। रोमक नमक–यह गुण में लघु होता है। और जो धूलि से बनाया जाता है वह गुरू, क्षार युक्त और कफ वर्धक होता है।

विश्लेषण : यहाँ कुल सात नमकों का वर्णन किया गया है। सामान्यतः जिन प्रयोज्य औषधि वर्गों में केवल नमक कानिर्देश होता है वहाँ सैधव नमक का प्रयोग होता है। जहाँ लव ण वर्ग का निर्देश होता है। वहाँ सैंधव सोंचर विड उद्रिद और सामुद्र इन पाँच का ग्रहण होता है। चरक ने केवल पांच नमकों का ही निर्देश किया है यथा–

सौर्वचर्ल सैंधव विडमौद्भिदमेव च। सामुद्रेण सहैतानि पच्च स्पुःलवणानिच।। गुल्महृद्ग्रहणी पाण्डुप्लीहानाहगलामयान्। श्वासार्शकफक सांश्च शमयेद्यवशूकजः।।

अर्थ : यवक्षार का गुण– यवक्षार गुल्म हृदय रोग ग्रहणी पाण्डुरोग, प्लीहा वृद्धि, आनाह, गले के रोग, श्वास, अर्श, कफ विकार, और सभी प्रकार के कास रोग को शान्त करता है।

क्षारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोषाः कृमि जिल्लघुः। पित्तासृग्दूषरणः पाकी छेद्यहृद्यो विदारणः।। अपथ्यः कटुलावण्याच्छ्क्रौजःकेशचक्षुषाम्।।

अर्थ : सामान्यतः सभी क्षारों के गुण–सभी क्षार उत्तम तीक्ष्ण उष्ण कृमि नाशक और लघु होते हैं। पित्त और रक्त को दूषित करते हैं। व्रणों को पकाते हैं। मेदा कफ और शरीर के भिन्न भागों में उत्पन्न सभी ग्रन्थियों का छेदन करते है। हृदय को हानि करते हैं। पके हुये व्रणों का विदारण करते हैं। ये रस में कटु और नमकीन होने से शुक्र ओज केश और नेत्रों के लिए अपथ्य (हानिकर) है।

हिङुः वातकफानाहशूलध्नं पित्तकोपनम्।। कटुपाकरसं रूच्यं दीपनं पाचनं लघु।

अर्थ : हींग वात विकार, कफ विकार, आनाह और शूल रोग को नष्ट करता है, पित्त प्रकोपक है, रस और विपाक में कटु होता है। यह भोजन में रूचि उत्पादक अग्नि दीपक अन्न का पाचक और लघु होता है।

कषाया मधुरा पाके रूक्षा विलवणा लघुः।। दीपनी पाचनी मेध्या वयसः स्थापनी परम्। उष्णवीर्या सरा ••युष्या बुद्धीन्द्रियबलप्रदा।। कुष्ठवैवर्ण्यवैस्वर्यपुराणविषमज्वरान्। शिरो•क्षिपाण्डुहृद्रोगकामलाग्रहणीगदान्।। सशोषशोफातीसार मेदोमोहवामिक्रिमीन्। श्वासकासप्रसेकार्शःप्लीहानाहगरोदरान्। विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरूस्तम्भमरोचकान्।। विबन्धं स्रोतसां गुल्ममूरूस्तम्भमरोचकान्।
हरीतकी जयेद्व्याधींस्तां स्तांश्च कफवातजान्।।

अर्थ : हर्रे का गुण–यह रस में कषाय विपाक में मधुर रूक्ष, लवण रसरहित, लघु अग्निदीपक, अन्नपाचक, मेधावर्धक, वय को उतम रूप से स्थिर रखने वाली (रसायन) वीर्य में उष्ण, मल सारक, आयु वर्धक, बुद्धि इन्द्रिय को बल देने वाली है। कुष्ठ विवर्णता, स्वर भेद, जीर्ण विषमज्वर, शिरोरोग, नेत्ररोग, पाण्डुरोग, हृदयरोग, कामला, ग्रहणी, शोष, शोथ, अतिसार, मेदा रोग मोह, वमन रा`ग, कृमि रोग, श्वास, का स, प्रसेक (मुँह से पानी गिरना) अर्श प्लीहा वृद्धि, आनाह, गर (कृत्रिम विष विकार) उदररोग स्रोतों का विबन्ध, गुल्म, उरूस्तम्भ और अरोचक, रोगों को नष्ट करती है तथा कफ एवं वात जन्य सभी रोगों को दूर करती है।

विश्लेषण : हरीतकी अर्थात हरड़े या हर्रे में नमक को छोड़कर मधुरादि पांचों रस वर्तमान होते हैं। किन्तु उनमें कषाय रस की प्रधानता होती है। इसलिए सर्वप्रथम इसे कषाय बताया गया है हरीतकी प्रायः सभी रोगों में प्रयुक्त होती है। स्वादु अम्ल रस होने से वात को, कटु और तिक्त रस होने से कफ को कषाय और मधुर होने से यह पित्त को दूर करती है बताया भी हैं–

स्वादम्ल भावात् पवनं कटुतिक्ततयाकफम्। कषाय मधुरत्वाच्च पित्तंहन्ति हरीतकी।।

अर्थ : यह छोटी हर्रे और बड़ी हर्रे के नाम से दो प्रकार की पाई जाती है छोटी हर्रे में भी उपरोक्त सभी गुण पाया जाता है। क्यों कि यह हर्रे के कच्चे गुठली रहित फल जो स्वतः पेड़ से गिर जाते है और सूख जाते हैं उन्हे लेकर काम में लाया जाता है। इस अवस्था में टिकोरे में पूर्ण रस वीर्य विपाक के न होने से हर्रे के अल्प गुण इसमें पाये जाते है। छोटी हरे वीर्य में उष्ण नहीं होती अतः कोमल प्रकृति के व्यक्तियों में इसका प्रयोग किया जाता है।

तद्वदामलकं शीतमम्लं पित्तकफापहम्।

अर्थ : आँवला का गुण–हरीतकी में वर्तमान सभी गुण आँवले में पाये जाते हैं। विशेषकर आँवला वीर्य में शीतल, रस मे अम्ल, पित्त तथा कफ का नाशक है।

विश्लेषण : हरीतकी के समान गुण इसमें भी होते हैं। इस वचन से लवण रहित पाँच रसों की सत्ता इसमें बताई गई है पर इसमें अम्ल रस की प्रधानता होती है। इसलिए इसे पित्त और कफ नाशक माना है यद्यपि यह रस में अम्ल है फिर भी शीत वीर्य होने से पित्त शामक होता है। यथा–

अम्लभावात् जयेत् वातं, पित्तं माधुर्य शैत्यतः। कफं रूक्ष कषायत्वा देवमेष त्रिदोष नुत्।।
सुश्रुत ने भी इसे त्रिदोष नाशक बताया है यथा– चक्षुष्यं सर्व दोषघ्नं वृष्यमामलकी फलं।
हन्ति वातं तदम्लत्वात् पितं माधुर्यशैत्यतः।। कफं रूक्ष कषायत्वात् फलेभ्यो •धिकच्ज तत्।

अर्थ : दोनों के (हरीतकी–आँवला) समान गुण होते हुए रस प्रभाव की भिन्नता से विशेष रूप में हरीतकी वात कफ को और आवला शीत अम्ल रस की प्रधानता से विशेष रूप स` पित्त और कफ को दूर करता है।

कटु पाके हिमं केश्यमक्षमीषच्च तद्गुणम्।।

अर्थ : बहेड़े का गुण–वह विपाक मे कटु, वीर्य में शीतल, केश के लिए लाभ कर और हरीतकी आँवले क` कुछ गुणों से समान होती है।

विश्लेषण : सामान्यतः हरे आवला और बहेड़ा यह तिनों गुण में एक समान होते हैं। किन्तु इनके प्रयोग में भिन्नता होती है बहेड़े का नाम अक्ष है। अक्ष का तात्पर्य कर्ष (1 तो 0) से है इसका नाम कर्ष फल भी है यह 1 तो 0 की मात्रा में प्रयुक्त होती है हरीत की दो तो 0 की मात्रा में प्रयुक्त होती है जैसा बताया है।

नवास्निग्धा घनावृता गुर्वो क्षिप्ता तथा•म्यसि। निमज्जैत या प्रशस्तत्वात् गुण कृत् सा प्रकीर्तिताः।। नवादि गुण युक्तत्वं तथैकत्र द्विकर्षता।।

हरीतकी फले यत्र तेनैतत् रेष्ठमुच्यते।।

आवले के प्रयोग की यद्यपि मात्रा निर्दिष्ट नहीं है। तथापि त्रिफला के रूप में जब इन तीनों का एकत्र प्रयोग होताा है। तो–

अभयैका प्रदातव्या द्वावेवतु विभीतकी।

धात्री फलं च चत्वारिं, त्रिफलेयं प्रकीर्तिताः।।

इस वचन से चार आँवला, दो बहेड़ा और एक हरीतकी अलग–अलग मात्रा मानी गयी है। सुश्रुत ने बहेड़े को स्वादु पाकी एवं वीज को उष्ण माना है। यथा–

भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्य कृमि नाशनम्। चक्षुष्यं स्वादु पाक्यक्षं कषायं कफ पित्त जित्।।

अर्थ : इस प्रकार गुणों में भिन्नता देखकर कुछ विद्वान मूल पाठ में ''पाके हिमं'' के स्थान पर पाके उष्णं ऐसा पाठ मानते हैं। और बहेड़े को उष्ण वीर्य मानते हैं। बहेड़े का प्रयोग विशेष रूप से कास व स्वर भेद में होता है। इसमें कफ की प्रधानता होती है। उष्ण गुण से बहेड़ा कफ को दूर कर कास और स्वर भेद को ठीक करता है। यही बात सोचकर लोलिम्बराज ने–

रावणस्य सुतोहन्यात् मुख वारिज धारणात्। श्वसनं कसनं चैव हिक्कां च •पि विशेषतः।।

यहाँ रावण सुत से अक्षय कुमार का पर्याय अक्ष बहेड़ा किया गया है।

इयं रसायनवरा त्रिफला९क्यामयापहा। रोपणी त्वग्गादक्लेदमेदोमेहकफास्रजित्।।

अर्थ : त्रिफला का गुण–हरे बहेड़ा आँवला इन तीनों द्रव्यों को एक दो चार संख्या में अथवा तीनों का चूर्ण अलग बनाकर समान मात्रा में लेने का नाम त्रिफला है यह त्रिफला रसायन द्रव्यों में श्रेष्ठ, नेत्र रोगों को नाश करने वाला, व्रणों को भरने वाला, त्वचा के रोग, कुण्ठ आदि को दूर करने वाला, व्रणों के क्लेद को नष्ट करने वाला एवं मेदा प्रमेह कफ और रक्त विकार को दूर करने वाला होता है।

सकेसरं चतुजतिं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्। पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्ष रोचनदीपनम्।।

अर्थ : त्रिजातक और चतुर्जातक के गुण–दालचीनी तेजपत्ता और छोटी इलाइची इन तीन का नाम त्रिजातक है और यदि इनमें नाग केशर मिला दिया जाए तो इसे चतुजतिक कहते हैं। यह दोनों वर्ग पित्त प्रकोपक तीक्ष्ण रूक्ष अग्नि दीपक और भोजन में रूचि उत्पन्न करते वाले हैं।

रसे पाके च कटुकं कफध्नं मरिचं लघु। श्लेष्मला स्वादु शीता९९द्रीं गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली। सा शुष्का विपरीता९तः स्निग्धा वृष्या रसे कट।।

स्वादुपाका•निलश्लेष्मश्वासकासापहा सरा।। न तामत्युपयुज्जीत रसायनविधिं विना। नागरं दीपनं वृष्यं ग्राहि हृद्यं विबन्धनुत्।।

रूच्यं लघ स्वादुपाकं स्निग्धोष्णं कफवातजित्।।

मरिच पीपल और सोंठ का गुण–

मरिच–यह रस और वियाक में कटु कफ नाशक और लघु होती है।

पीपल–गीली पीपल कफवर्धक, रस में मधुर, वीर्य में शीत, गुरू और स्निग्ध होती है। सूखी पीपल–यह गीली पीपल के गुणों से विपरीत अर्थात वीर्य में उष्ण कफ नाशक रस में कटु वृष्य स्निग्ध विपाक में मधुर वात विकार

कफ विकार श्वास कास नाशक एवं सारक है। इन गुणों से युक्त होने पर भी रसायन विधि को छोड़कर इसका अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिए।

सोंठह—यह अग्नि दीपक वृव्य ग्राही ह्रदय के ि लए हितकारी और विवन्ध को दूर करती है। भोजन में रूचि उत्पादक लघु विपाक मे मधुर स्निग्ध वीर्य में उष्ण एवं कफ और वायु को नष्ट करने वाली होती है।

विश्लेषण : यहां सूखे मरिच का गुण बताया गया है अन्यत्र मरिच का गुण—

रोचनं दीपनं छेदि सुगन्धि कफ वात नुत्। लात्युष्णं कटुकं तीक्ष्णं भरिचं ना•ति पित्तलम्।।

बताया है और मरिच को न अधिक उष्ण और न अधिक पित्त कारक निर्देश किया है यह गीले मरिच का गुण प्रतीत होता है। क्योंकि सुश्रुत ने—

'स्वादु पाक्यर्द्रं मरिचं गुरू श्लेष्मप्रसेकि च' से गीले मरिच को स्वादु पाकी माना है जो मधुर पाकी होगी वह न अधिक उष्ण होगी न अधिक पित्त को बढ़ायेगी। आगे गीली और सूखी दोनों प्रकार के पिप्पली का गुण निर्देश किया है। और मरिच का बल सूखे का ही गुण बताया है। यद्यपि गीली पीपल से सूखी पीपल में गुण की भिन्नता बताई है। तथापि कुछ गुणों में समानता रहती ही है। सूखी पीपल रस में कटु और वीर्य में उष्ण होती है। किन्तु विपाक में मधुर होने से विभिन्न पित्त विकारों में अथवा शुक्रादि दोष में लाभकर होती है इस पर सुश्रुत में'' ' कटुका पिप्ली पितं शमर्यात शीत वीर्यत्वात् से आर्द्र पीपल को कटु नहीं माना है। परन्तु उसे मधुर माना है। वीर्य में शीत माना है।*रसो विपाकस्तौ वीर्यं' प्रभावस्तान् व्यपोहति'* के सिद्धान्त से शीत वीर्य पित शामक होता है। इसी प्रकार उष्ण पीपल कटु होते हु ए स्वादु विपाक से पित्त शामक होती है। तात्पर्य यह है कि पीपल वात पित्त—कफ, इन तीनों दोषों को शान्त करती है। फिर भी पिप्पली का अधिक प्रयोग चरक ने निषेध किया है उन्होंने बताया है।

तद्वदार्द्रकर्मतच्च त्रयं त्रिकटुकं जयेत्। स्थौल्याग्निसदश्वासकासश लीपदपीनसान्।।

अर्थ : अदरक का गुण—शुण्ठी में जो गुण पाये जाते हैं वे सभी गुण अदरक में पाये जाते हैं। किन्तु शुण्डी अदरक से विशेष लघु होती है इस प्रकार मरिच, पीपल और सौंठ इन तीनों को त्रिकटु कहा जाता है। यह मोटापा, अग्नि की मन्दता, श्वास, कास श्लीपद और पीनस रोग को दूर करता है।

चविकापिप्पलीमूलं मरिचाल्पान्तरं गुणैः। चित्रको•ग्निसमः पाके शोफार्शःकृमिकुष्ठहा।

अर्थ : चव्य और पिप्पली मूल का गुण—यह दोनों मरिच से गुण में कुछ हीन होते हैं। अर्थात् रस विपाक में कटु कफ नाशक, लघु और उष्ण वीर्य होते हैं।

चित्रका का गुण—यह विपाक में अग्नि के समान अर्थात् अत्यन्त उष्ण होता है। अथवा पाचन क्रिया में अग्नि के समान कार्य करता है। तथा शोथ अर्श क्रिमि और कुष्ठ रोग को दूर करता है।

पच्चकोलकमेतच्च मरिचेन विना स्मृतम्।
गुल्मप्लीहोदरानाहशूलध्नं दीपनं परम्।

अर्थ : पंचकोल का गुण—पीपल, पिपरामूल चव्य, चित्रक और सोंठ इन पाँचों का नाम पच्चकोल होता है। इसमें मरिच की गणना नहीं की जाती है। यह गुल्म प्लीहा, उदर रोग, आनाह और शूल रोग को नष्ट करता है। तथा उत्तम रूप से अग्नि दीपक है :

बिल्वकाश्मर्यतर्कारीपाटलाटिण टुकैर्महत्। जयेत्कषायतिक्तोष्णं पच्चमुलं कफानिलौ।

अर्थ : महत्पच्चमूल का गुण—विल्व (कच्चे वेल की गुद्दी) गम्हार की छाल अरणी (गनियार) पाटला, सोनापाठा इन पाँचो का नाम महत्पच्चमूल है। यह रस में कषाय तिक्त और वीर्य में उष्ण एवं कफ और वायु को दूर करता है।

ह्रस्वं बृहत्यंशुमतीद्वयगोक्षुरकैः स्मृतम्। स्वादुपाकरसं नातिशीतोष्णं सवैदोषजित्।।

अर्थ : लघु पंचमूल का गुण–भटकटैया, बनभंटा, अंशुमतीद्वय शालपर्णी, पृश्निपर्णी (सरिवन, पिठिवन) और गोखरू इन पाँच द्रव्यों का नाम लघुपंचमूल कहा जाता है। यह रस औ र विपाक में मधुर तथा न अधिक शीत, न अधिक उष्ण अर्थात् अनुष्णाशीत होता है। और वात पित्त कफ इन तीनों दोषों को दूर करता है।

बलापुनर्नवैरण्डशूर्पपर्णीद्वयेन तु।। मध्यमं कफवातध्नं नातिपित्तकरं सरम्।।

अर्थ : मध्यम पच्मूल का गुण–वला, (वरियार) पुनर्नवा (गदह पुरना) एरण्ड मूल का छ़ाल शूर्पपर्णीद्वय, मुद्गपर्णी और माषपणी इन पाँच द्रव्यों का नाम मध्यम पच्चमूल है। यह कफ वात नाशक अधिक रूप में पित्त को नहीं बढ़ाता है। अर्थात् पित्त को सम रखते हुए कफ और वात नाशक एवं सारक है।

अभीरूवीराजीवन्तीजीवकर्षभकैः स्मृतम्।। जीवनाख्यं तु चक्षुष्यं वृष्यं पित्तानिलापहम्।

अर्थ : जीवन पच्चमूल–अभीरू (शतावर) वीरा (काकोली) जीवन्ती, जीवक, ऋषमक इन पाँच द्रव्यों का नाम जीवन पच्चमूल कहते हैं। यह नेत्रहितकारी, वाजीकर, पित्त एवं वायु को दूर करने वाला है।

शूकशिम्बीजपक्वान्नमांसशा कफलौषधैः। वर्गितंरन्नलेशो•यमुक्तो नित्योपयोगिकः।।

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचि– तायामष्टागंहृदय संहितायां सूत्रस्थाने •स्वरूप– विज्ञानीयो नाम षष्ठो•ध्यायः।।

अर्थ : अध्याय का उपसंहार–इस अध्याय में नित्य प्रयोग में आने वाले द्रव्यों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। जिनमें शूकधान्यवर्ग शिम्बीधान्य वर्ग पक्वान्न वर्ग मांसवर्ग शाक वर्ग फलवर्ग और औषधवर्ग के वर्णन प्रसंग में आहार द्रव्यों का संक्षिप्त में वर्णन किया गया है।

विश्लेषण : तात्पर्य यह है जगत के सभी द्रव्यों का वर्णन असम्भव है। पर नित्यव्यवहार में आने वाले द्रव्यों का वर्णन न छूठ जाय इस बात का ध्यान रखते हुए आचार्य वाग्भट्ट ने नाति संक्षेप विस्तर'' इस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन्हीं द्रव्यों का इस अध्याय में वर्णन किया है जिनका उपयोग सदा किया जाता है।

हमसे जुडे लिंक

सब PDF पुस्तक 01

सब PDF पुस्तक 02

Zevyoq **+917433906871**